ॐ

परमार्थ-ग्रन्थमाला, प्रथम पुष्प

तत्त्व-चिन्तामणि

भाग १

मूल्य ॥=)
सजिल्द ।॥-)

जयदयाल गोयन्दका

परमार्थ-ग्रन्थमाला, प्रथम पुष्प

तत्त्व-चिन्तामणि

चि. म. वीरभद्रशर्मणः

जयदयाल गोयन्दका

प्रथम बार ५०००
संवत् १९८६
द्वितीय बार ३०००
संवत् १९८६

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास
गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विषय-सूची

श्रीहरिः

सम्पादकका निवेदन

सत्य-सुखके विघातक जड़वादके इस विकास-युगमें, जहाँ ईश्वर और ईश्वरीय चर्चाको व्यर्थ बतलाने और माननेका दुःसाहस किया जा रहा है, जहाँ परलोकका सिद्धान्त कल्पना-प्रसूत समझा जाता है, जहाँ ज्ञान-वैराग्य-भक्तिकी बातोंको अनावश्यक और देश-जातिकी उन्नतिमें प्रतिबन्धकरूप बतलाया जाता है, जहाँ भौतिक उन्नतिको ही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय समझा जाने लगा है, जहाँ केवल इन्द्रिय-सुख ही परम सुख माना जाता है और जहाँ प्रायः समूचा साहित्य-क्षेत्र जड़-उन्नतिके विधायक ग्रन्थों, मौज-शौकके उपन्यासों और गल्पों एवं कुरुचि-उत्पादक शब्दाडम्बरपूर्ण रसीली कविताओंकी बाढ़से बहा जाता है, वहाँ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और निष्काम कर्मयोग-विषयक तात्त्विक विषयोंकी पुस्तकसे सबको सन्तोष होना बहुत ही कठिन है, तथापि गत तीन वर्षोंके अनुभवसे मुझे यह पता लगा है कि नास्तिकताकी इस प्रबल आँधीके आनेपर भी ऋषि-मुनि-सेवित पुण्यभूमि भारतके सुदृढ़ मूल आध्यात्मिक सघन छायायुक्त विशाल तरुवरकी जड़ें अभी नहीं हिली हैं और उसका हिलना भी बहुत ही कठिन मालूम होता है। इस समय भी भारतके आध्यात्मिक जगत्में सच्चे जिज्ञासुओं और साधु-स्वभावके मुमुक्षुओंका अस्तित्व है, यद्यपि उनकी संख्या घट गयी है। इस अवस्थामें यह आशा करना अयुक्त नहीं होगा कि इस सरल भाषामें लिखी हुई तत्त्वपूर्ण पुस्तकका अच्छा आदर होगा और लोग इससे विशेष लाभ उठावेंगे।

इन पंक्तियोंके लेखककी दृष्टिमें इस ग्रन्थके रचयिताका स्थान बहुत ही ऊँचा है। आध्यात्मिक जगत्में इस प्रकारके महान् पुरुष बहुत ही थोड़े हैं। देवर्षि नारदने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥

महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। यानी 'सच्चे सत्पुरुष सहजमें मिलते नहीं, मिलनेपर पहचाने नहीं जाते, तथापि इनका सङ्ग कभी व्यर्थ नहीं जाता।' इसी कथनके अनुसार मेरी यह धारणा है कि लोगोंने इन्हें भलीभाँति समझा या पहचाना नहीं है। वास्तवमें पहचानना है भी कठिन, एक सीधे-सादे साधारण बोलचालमें अनपढ़-से प्रतीत होनेवाले और गृहस्थमें रहकर व्यापारी-जीवन व्यतीत करनेवालेको इस रूपमें पहचानना भी कठिन है। मैंने देखा है, जब अपनेको पढ़े-लिखे समझनेवाले लोग पहलेपहल इनसे मिलते हैं या इनका कोई प्रवचन सुनते हैं तो आरम्भमें इनकी हिन्दी भाषा और शब्दोंके उच्चारणमें दोष देखकर प्रायः समझ लेते हैं कि यहाँ क्या रक्खा है। कहीं-कहीं तो लोग ऊबकर उठ भी जाते हैं, परन्तु जो धैर्य धारणकर कुछ समयतक बैठे रहते हैं, उन्हें इनका तात्त्विक विवेचन सुनकर चकित होना पड़ता है। लोगोंमें इस विषयकी ओर रुचि उत्पन्न हो, इसलिये बड़े उत्साहके साथ 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ आप कृपापूर्वक लेख लिखवा दिया करते हैं! आप शुद्ध हिन्दी नहीं लिख सकते, इसलिये मारवाड़ी-मिश्रित हिन्दी-में ही इनके लेख होते हैं, मैं अपनी शक्तिभर आपके भावोंकी रक्षा करते हुए भाषाका संशोधन कर लिया करता हूँ, इस

ग्रन्थमें प्रकाशित लेखोंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही किया गया है। यद्यपि मैंने आपके भावोंकी रक्षाकी ओर पूरा ध्यान रक्खा है, तथापि मैं दृढ़तासे कह नहीं सकता कि सभी जगह मैं भावोंकी रक्षा कर पाया हूँ। कारण, कई जगह तो मुझे ऐसे भाव मिले हैं, जिनके समझनेमें बहुत समय लगाना पड़ा है। ऐसी स्थितिमें कहीं-कहीं भावोंमें यत्किञ्चित् परिवर्तन हो गया हो तो भी आश्चर्य नहीं है। मुझे एक ऐसे सत्पुरुषके सङ्गका और उनके लेखोंके सम्पादनका सुअवसर प्राप्त हुआ इससे मैं अपने लिये बहुत ही सौभाग्य समझता हूँ।

ग्रन्थकारके सम्बन्धमें मैंने जो कुछ लिखा है, सो केवल मेरी अपनी तुच्छ धारणा है, मैं किसीसे यह नहीं कहना चाहता कि कोई भी मेरे इन शब्दोंके अनुसार ऐसा ही मान लें, न ग्रन्थकार ही ऐसा चाहते हैं। इस निवेदनमें मैंने जो कुछ लिख दिया है, सो भी ग्रन्थकारसे बिना पूछे और बतलाये ही लिखा है, यदि मैं उनसे पूछता तो मेरा विश्वास है कि वे मुझे इन उद्गारोंके प्रकाशनके लिये भी कभी अनुमति नहीं देते! अस्तु।

अब पाठक-पाठिकाओंसे यह निवेदन है कि वे इस ग्रन्थको मननपूर्वक पढ़ें और यदि इसमेंसे उन्हें अपने लिये कोई बात लाभजनक प्रतीत हो तो उसे अवश्य ग्रहण करें।

गोरखपुर
विजयादशमी १९८६

विनीत
हनुमानप्रसाद पोद्दार
(कल्याण-सम्पादक)

विनय

यह पुस्तक कुछ लेखोंका संग्रह है। लेख कल्याणके लिये समय-समयपर लिखे गये थे और गत तीन वर्षोंमें ये सब कल्याणमें प्रकाशित भी हो चुके हैं। बड़े-बड़े विद्वान् और महात्माओंके सामने पारमार्थिक विषयोंपर मेरा कुछ लिखना वास्तवमें शोभा नहीं देता, इन विषयोंपर बड़े विद्वानोंकी भी कलम रुकती है, फिर मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीभगवन्नामके प्रभावसे मैंने जो कुछ समझा है, उसीका कुछ भाव इन लेखोंमें दिखलानेकी चेष्टा की गयी है। इस पुस्तकसे यदि किसी पाठकके चित्तमें तनिक भी ज्ञान, वैराग्य और सदाचारका सञ्चार होगा, तनिक-सी भी भगवद्भक्तिकी भावना उत्पन्न होगी और मनके गम्भीर प्रश्नोंमें दो-एकका भी समाधान होगा तो बड़े आनन्दकी बात है।

मैं न तो विद्वान् हूँ और न अपनेको उपदेश-आदेश एवं शिक्षा प्रदान करनेका ही अधिकारी समझता हूँ। मैंने तो अपने मनके विनोदके लिये कुछ समय भगवच्चर्चामें लगानेका प्रयत्नमात्र किया है, अन्तर्यामीकी प्रेरणासे जो कुछ लिखा गया है सो उसीकी वस्तु है, मेरा तो इसमें भी कोई अधिकार नहीं है।

इन लेखोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंके लिये मैं यह नहीं कहता कि यह सबको मान लेने चाहिये या इनके विरुद्ध कोई सिद्धान्त ठीक नहीं है। मैंने केवल अपने हृदयके उन भावोंको कुछ-कुछ प्रकट करनेकी चेष्टा की है, जिनके सम्बन्धमें मुझे अपने मनमें कोई भ्रान्ति नहीं है!

मेरा सभी पाठकोंसे सविनय निवेदन है कि वे कृपाकर इन निबन्धोंको मन लगाकर पढ़ें और इनमें रही हुई त्रुटियाँ मुझे बतलायें।

विनीत, जयदयाल गोयन्दका

द्वितीय आवृत्ति

निवेदन

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके आध्यात्मिक निबन्धोंके संग्रहका यह तत्त्व-चिन्तामणि खण्ड १ पुनः छपनेका सुअवसर आया है। प्रथम संस्करण बहुत बड़ा—पाँच हजारका—था; वह बहुत शीघ्र समाप्त हो गया, यह इस सुन्दर ग्रन्थकी उपयोगिताका परिचायक है। जिन सज्जनोंने इसे लेकर हमें नवीन संस्करण प्रकाशित करनेमें उत्साहित किया, उनके हम कृतज्ञ हैं। इस ग्रन्थपर अनेक साधु-महात्मा, अनुभवी विद्वान्, पत्र-पत्रिका-सम्पादकों और पाठकोंकी जो सम्मतियाँ आयी हैं उनसे भी इसकी परम उपादेयताका पता चलता है।

यह नवीन संस्करण कुछ आवश्यक सुधार और फेर-फारके साथ प्रकाशित किया गया है। प्रचारकी दृष्टिसे मूल्य ॥।-) से घटाकर ॥≠) कर दिया है। इससे यह पुस्तक और भी सुलभ हो गयी है। ऐसी सुन्दर पुस्तककी एक प्रति अपने-अपने घरोंमें रखनेके लिये सबसे प्रार्थना है।

इस ग्रन्थका दूसरा खण्ड भी छप रहा है। शीघ्र ही उसके प्रकाशित होनेकी सम्भावना है। उसमें श्रीजयदयालजीके अन्य अनेक उपयोगी लेखोंका संग्रह किया गया है। आशा है उसको भी प्रेमी सज्जनगण अपनाकर अपनी सुरुचिका परिचय देते हुए हमारा उत्साह बढ़ावेंगे।

विनीत

प्रकाशक



भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

ज्ञानीकी अनिर्वचनीय स्थिति



जिस प्रकार असत्य, हिंसा और मैथुनादि कर्म बुद्धिमें बुरे निश्चित हो जानेपर भी उन्हें मन नहीं छोड़ता, इसी प्रकार बुद्धि विचारद्वारा संसारको कल्पित निश्चय कर लेती है परन्तु मन इस बातको नहीं मानता। साधककी एक ऐसी अवस्था होती है और इस अवस्थाको इस-प्रकारसे व्यक्त किया जाता है कि 'मेरी बुद्धिके विचारमें संसार कल्पित है' इसके पश्चात् जब आगे चलकर मन भी इस बातको मान लेता है तब संसारमें कल्पित भाव हो जाता है। परन्तु यह भी केवल कल्पना ही होती है। इसके बाद जब अभ्यास करते करते ऐसी स्थिति प्रत्यक्षवत् हो जाती है तब साधकको किसी

समय तो संसारका चित्र 'आकाशमें तिरवरों' की तरह भास होता है और किसी समय वह भी नहीं होता। जैसे आकाशमें तिरवरे देखनेवालेको यह ज्ञान बना रहता है कि 'वास्तवमें आकाशमें कोई विकार नहीं है, बिना हुए ही भास होता है' इसी प्रकार उस साधकका भी भास होने और न होनेमें समान ही भाव रहता है, उसे संसारकी सत्ताका किसी कालमें किसी और प्रकारसे भी सत्य भास नहीं होता। इस अवस्थाका नाम 'अकल्पित स्थिति' है। साधककी ऐसी अवस्था ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें हुआ करती है परन्तु इस अवस्थामें भी इस स्थितिका ज्ञाता एक धर्मी रह जाता है। इस तीसरी भूमिकामें साधनकी गाढ़ताके कारण साधकके व्यावहारिक कार्योंमें भूलें होना सम्भव है। परन्तु भगवत्प्राप्तिरूप चौथी भूमिकामें प्रायः भूलें नहीं होतीं, उस अवस्थामें तो उसके द्वारा न्याययुक्त समस्त कार्य सुचारुरूपसे स्वाभाविक ही बिना संकल्पके हुआ करते हैं। जैसे श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(४।१९)

'जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं ज्ञान-रूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले उस पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।' पञ्चम भूमिकामें व्यावहारिक कार्योंमें भूलें हो सकती हैं परन्तु तीसरी भूमिकावालेकी अवस्था साधनरूपा है और पाँचवीं भूमिकावालेकी स्थिति स्वाभाविक है। तीसरी भूमिकाके

बाद 'साक्षात्कार' होता है, इसीको मुक्ति कहते हैं। कई जैन आदि मतावलम्बी लोग तो मृत्युके बाद मुक्ति मानते हैं परन्तु हमारे वेदान्तके सिद्धान्तमें जीवन्मुक्ति भी मानी गयी है, मृत्युके पहले भी ज्ञान हो सकता है। इस अवस्थामें उसका शरीर तथा शरीरके द्वारा होनेवाले कर्म केवल लोगोंके देखनेमात्रके लिये रह जाते हैं। उसमें कोई 'धर्मी' नहीं रहता। यदि कोई कहे कि जब उसमें चेतन ही नहीं रहा तो फिर क्रिया क्योंकर होती है? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि समष्टि-चेतन तो कहीं नहीं गया, व्यष्टि-भावसे हटकर उसकी स्थिति शुद्ध चेतनमें हो गयी। समष्टि-चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिसे क्रिया हुआ करती है इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। इसपर यदि कोई फिर यह कहे कि चेतन तो जड-पदार्थ और मुर्देमें भी है, उनमें क्रिया क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि उनमें क्रिया न होनेका कारण अन्तःकरणका अभाव है, यदि योगीजन एक चित्तकी अनेक कल्पना करके मुर्दे या जड़-पदार्थमें चित्तका प्रवेश करवा दें तो उसमें भी क्रियाओंका होना सम्भव है।

कोई पूछे कि ज्ञानी कौन है? तो इसके उत्तरमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि शरीरको ज्ञानी कहा जाय तो जड शरीरका ज्ञानी होना सम्भव नहीं, यदि जीवको ज्ञानी कहें तो ज्ञानोत्तरकालमें उस चेतनकी 'जीव' संज्ञा नहीं रहती और यदि शुद्ध चेतनको ज्ञानी कहें तो शुद्ध चेतन तो कभी अज्ञानी हुआ ही नहीं। इसलिये यह नहीं बतलाया जा सकता कि ज्ञानी कौन है!

ज्ञानीकी कल्पना अज्ञानीके अन्तःकरणमें है, शुद्ध चेतनकी दृष्टिमें तो कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं । ज्ञानीको जब दृष्टि ही नहीं रही तो फिर सृष्टि कहाँ रहती ? अज्ञानीजन इसप्रकार कल्पना किया करते हैं कि इस शरीरमें जो जीव था सो समष्टि-चेतनमें मिल गया, समष्टि-चेतनके जिस अंशमें अन्तःकरणका अध्यारोप है उस अन्तःकरण-सहित उस चेतनके अंशका नाम ज्ञानी है । वास्तविक दृष्टिमें ज्ञानी किसकी संज्ञा है यह कोई भी वाणीद्वारा नहीं बतला सकता, क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टिमें तो ज्ञानीपन भी नहीं है । ज्ञानी और अज्ञानीकी संज्ञा केवल लोकशिक्षाके लिये है और अज्ञानियोंके अन्दर ही इसकी कल्पना है । जिस प्रकार गुणातीत-के 'लक्षण' बतलाये जाते हैं । भला जो तीनों गुणोंसे अतीत है उसमें 'लक्षण' कैसे ? लक्षण तो अन्तःकरणमें बनते हैं और अन्तः-करणसे होनेवाली क्रिया त्रिगुणात्मिका है । बात यह है कि गुणातीतको समझनेके लिये अन्तःकरणकी क्रियाओंके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है । जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है:—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥
(१४ । २२)

इसीके आगे २३ । २४ और २५ वें श्लोकोंमें भी गुणातीतके लक्षण बतलाये गये हैं । उपर्युक्त २२ वें श्लोकके 'प्रकाश' शब्दसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें उजियाला, प्रवृत्तिसे चेष्टा और मोहसे निद्रा, आलस्य (प्रमाद या अज्ञान नहीं) अथवा संसारके ज्ञानमें

सुषुप्तिवत् अवस्था समझनी चाहिये । अन्तःकरणमें कोई 'धर्मी' न रहनेके कारण 'द्वेष' और आकाङ्क्षा तो किसको हो ? रागद्वेष और हर्ष-शोकादि न होनेके कारण यह सिद्ध होता है कि उसमें कोई 'धर्मी' नहीं है । यदि जड़ अन्तःकरणके साथ समष्टि-चेतनकी लिप्तता होती तो जड़ अन्तःकरणमें रागद्वेषादि विकारोंका होना सम्भव होता । परन्तु समष्टि-चेतनका सम्बन्ध अन्तःकरणसे नहीं रहता, केवल उसकी सत्ता-स्फूर्तिसे चेष्टा होती है । ये सब लक्षण भी वहीं-तक हैं जहाँतक संसारका चित्र है और ये साधकके लिये आदर्श उपायस्वरूप हैं, इसीलिये शास्त्रोंमें इनका उल्लेख है ।

गुणातीतकी वास्तविक अवस्थाको कोई दूसरा न तो जान सकता है और न बतला ही सकता है, वह स्वसंवेद्य स्थिति है । परन्तु यदि कोई इस प्रकार परीक्षा करे कि मुझमें ज्ञानीके लक्षण हैं या नहीं ? तो जानना चाहिये कि इसे ज्ञान नहीं है, लक्षणोंकी खोजसे यह बात सिद्ध हो गयी कि उसकी स्थिति शरीरमें है, उस ज्ञानीकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है, नहीं तो खोजनेवाला कौन और स्थिति किसकी ? और यदि खोजना ही चाहे तो केवल शरीरमें ही क्यों खोजे, पाषाण या वृक्षोंमें उसे क्यों न खोजे ? केवल शरीरमें ढूँढ़नेसे उसका शरीरमें अहंभाव सिद्ध होता है । इससे तो वह अपने आप ही क्षुद्र बना हुआ है । हाँ, यदि साधक शरीरसे अलग होकर (द्रष्टा बनकर) पत्थर और वृक्षादिके साथ अपने शरीरकी सादृश्यता करता हुआ विचार करे तो इससे उसे लाभ होना सम्भव है । जैसे श्रीगीताजी-में कहा है:—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

(१४ । १९)

'जिस कालमें द्रष्टा तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं, ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघन मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।'

परन्तु जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान नहीं हुआ' वह भी ज्ञानी नहीं है क्योंकि वह स्पष्ट कहता है । जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान हो गया' उसे भी ज्ञानी नहीं मानना चाहिये क्योंकि यों कहनेसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन पदार्थ सिद्ध होते हैं और जो यह कहता है कि 'ज्ञान हुआ कि नहीं मुझे मालूम नहीं' सो भी ज्ञानी नहीं है क्योंकि ज्ञानोत्तरकालमें इस प्रकारका सन्देह रह नहीं सकता । तो ज्ञानी क्या कहे ? इसका उत्तर नहीं मिलता । इसीलिये यह स्थिति 'अनिर्वचनीय' कही गयी है ।



ज्ञानकी दुर्लभता



किसी श्रद्धालु पुरुषके सामने भी वास्तविक दृष्टिसे महापुरुषोंके द्वारा यह कहना नहीं बन पड़ता कि 'हमको ज्ञान प्राप्त है' क्योंकि इन शब्दोंसे ज्ञानमें दोष आता है। वास्तवमें पूर्ण श्रद्धालुके लिये तो महापुरुषसे ऐसा प्रश्न ही नहीं बनता कि 'आप ज्ञानी हैं या नहीं ?' जहाँ ऐसा प्रश्न किया जाता है वहाँ श्रद्धामें त्रुटि ही समझनी चाहिये और महापुरुषसे इस प्रकारका प्रश्न करनेमें प्रश्नकर्ताकी कुछ हानि ही होती है। यदि महापुरुष यों कह दे कि मैं ज्ञानी नहीं हूँ तो भी श्रद्धा घट जाती है और यदि वह यह कह दे कि मैं ज्ञानी हूँ तो भी उनके मुँहसे ऐसे शब्द सुनकर श्रद्धा कम हो जाती है। वास्तवमें तो मैं अज्ञानी हूँ या ज्ञानी इन दोनोंमेंसे कोई-सी बात कहना भी महापुरुषके लिये नहीं बन पड़ता, यदि वह अपनेको अज्ञानी कहे तो मिथ्यापन-का दोष आता है और ज्ञानी कहे तो नानात्वका। इसलिये वह यह भी नहीं कहता कि मैं ब्रह्मको जानता हूँ और यह भी

नहीं कहता कि मैं नहीं जानता । वह ब्रह्मको जानता है ऐसा भी उससे कहना नहीं बनता । परन्तु वह नहीं जानता हो ऐसी बात भी नहीं है । श्रुति कहती है:—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

(केन० २ । २-३)

इसीलिये इसका नाम अनिर्वचनीय स्थिति है; इसीलिये वेदमें दोनों प्रकारके शब्द आते हैं और इसीलिये महापुरुष यह नहीं कहते कि मुझे प्राप्ति हो गयी । इस सम्बन्धमें वे स्वयं अपनी ओरसे कुछ भी न कहकर वेदशास्त्रोंकी तरफ संकेत कर देते हैं । परन्तु ऐसा भी नहीं कहते कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई । ऐसा कहना तो उत्तम आचरण करनेवाले आचार्य या नेता पुरुषोंके लिये भी योग्य नहीं, क्योंकि इससे उनके अनुयायियोंका ब्रह्मकी प्राप्तिको अत्यन्त कठिन मानकर निराश होना सम्भव है । जैसे यदि आज कोई परम सम्माननीय पुरुष कह दे कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई है, मैं तो स्वयं प्राप्तिके लिये उत्सुक हूँ तो ऐसा कहनेसे उनके अनुयायीगण या तो यह समझ बैठते हैं कि जब इनको ही प्राप्ति न हुई तो हमको क्योंकर होगी या यों समझ लेते हैं कि इतने अंशमें सम्माननीय पुरुषके शब्द या तो अयथार्थ हैं या असली स्थितिको छिपानेवाले हैं और इसप्रकारके दोषारोपसे उन लोगोंकी श्रद्धामें कुछ कमी होना सम्भव है । अतएव

इस विषयमें मौन ही रहना चाहिये। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि महापुरुषके लिये ज्ञानी वा अज्ञानी किसी भी शब्दका प्रयोग उसके अपने मुखसे नहीं बनता। इतना होनेपर भी महापुरुष यदि अज्ञानी साधकको समझानेके लिये उसे ज्ञानोपदेश करते समय उसीकी भावनाके अनुसार अपनेमें ज्ञानीकी कल्पनाकर अपनेको ज्ञानी शब्दसे सम्बोधित कर दे तो भी कोई हानि नहीं, वास्तवमें उसका यों कहना भी उस साधककी दृष्टिमें ही है और ऐसा कहना भी उसी साधकके सामने सम्भव है जो पूर्ण श्रद्धालु और परम विश्वासी हो, जो महापुरुषके शब्दोंको सुनते ही स्वयं वैसा बनता जाय और जिस स्थितिका वर्णन महापुरुष करते हों उसी स्थितिमें स्थित हो जाय। इसपर ऐसा कहा जा सकता है कि श्रद्धा और विश्वास तो पूर्ण है परन्तु वैसी स्थिति नहीं होती, इसके लिये वह बेचारा श्रद्धालु साधक क्या करे? यह ठीक है, परन्तु साधकके लिये इतना तो परमावश्यक है कि वह श्रवणके अनुसार ही एक ब्रह्ममें विश्वासी होकर उसीकी प्राप्तिके लिये पूरी तरहसे तत्पर हो जाय, जबतक उसे प्राप्ति न हो तबतक वह उसके लिये परम व्याकुल रहे। जैसे किसी मनुष्यको एक जानकारके द्वारा उसके घरमें गड़ा हुआ धन मालूम हो जानेपर वह उसे खोदकर निकालनेके लिये व्याकुल होता है, यदि उस समय उसके पास बाहरके आदमी बैठे हुए हों तो वह सच्चे मनसे यही चाहता है कि कब यह लोग हटें, कब मैं अकेला रहूँ और कब उस गड़े हुए धनको निकालकर हस्तगत कर सकूँ। इसी प्रकार जो साधक यह समझता है कि मेरे साधनमें बाधा देने-

चाहे आसक्ति और अज्ञान आदि दोष कब दूर हों और कब मैं अपने परमधन परमात्माको प्राप्त करूँ। जितनी ही देर होती है उतनी ही उसकी व्याकुलता और उत्कण्ठा उत्तरोत्तर प्रबल होती चली जाती है और वह उस विलम्बको सहन नहीं कर सकता। यदि इस प्रकारके साधकके सामने महापुरुष स्पष्ट शब्दोंमें भी अपनेको ज्ञानी स्वीकार कर ले तो भी कोई हानि नहीं, परन्तु इससे नीची श्रेणीके साधक और अपूर्ण प्रेमियोंके सामने यों कहनेसे उस महापुरुषकी तो कोई हानि नहीं होती परन्तु अनधिकारी होनेके कारण उस सुननेवालेके पारमार्थिक विषयमें हानि होना सम्भव है। यदि यह बात सभीको स्पष्ट कहनेकी होती तो शास्त्रोंमें इसे परम गोपनीय न कहा जाता और केवल अधिकारीको ही कहनी चाहिये ऐसी विधि न होती।

कोई यह कहे कि महापुरुषकी परीक्षा कैसे की जाय और यदि बिना परीक्षाके ही किसी अयोग्य व्यक्तिको गुरु वा उपदेशक मान लिया जाय तो शास्त्रोंमें उससे उल्टी हानि होना कहा गया है। यह प्रश्न और शास्त्रोंका कथन तो उचित ही है परन्तु जिसका संग करनेसे परमात्मामें, उस महापुरुषमें और शास्त्रोंमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाय, उसे गुरु या उपदेशक माननेमें कोई हानि नहीं। यदि कोई पूर्ण न भी हो तो जहाँतक उसकी गम्य है वहाँतक तो वह पहुंचा ही सकता है, (इस दृष्टिसे महापुरुषकी संगति करनेवाले साधकोंका संग भी उत्तम और लाभदायक है) आगे परमात्मा स्वयं उसे निभा लेते हैं। साधकको आवश्यकता है परमात्माके

परायण होनेकी । श्रीपरमात्माकी शरण लेनेमात्रसे ही सब कुछ हो सकता है । श्रीभगवान्‌ने कहा है:—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

अर्थात् जो अनन्य भावसे मुझमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थित पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ । संसारमें भी यही बात देखनेमें आती है कि यदि कोई किसीके परायण हो जाता है तो उसकी सारी सँभाल वही रखता है, जैसे बच्चा जबतक अपनी माताके परायण रहता है तबतक उसकी रक्षाका और सब प्रकारकी सँभालका भार माता स्वयं ही अपने ऊपर लिये रहती है । जबतक बालक बड़ा होकर स्वतन्त्र नहीं होता तबतक माता-पिताके प्रति उसकी परायणता रहती है और जबतक परायणता रहती है तबतक माता-पितापर ही उसका सारा भार है । इसी प्रकार केवल एक परमात्माकी शरण लेनेसे ही सारे काम सिद्ध हो सकते हैं । परन्तु शरण लेनेका काम साधकका है । शरण होनेके बाद तो प्रभु स्वयं उसका सारा भार सँभाल लेते हैं । अतएव कल्याणके प्रत्येक साधकको परमात्माकी शरण लेनी चाहिये ।

भ्रम अनादि और सान्त है





त्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होनेके कारण ज्ञानकी प्राप्ति करनी नहीं पड़ती और न उसकी प्राप्तिमें कोई परिश्रम या यत्नकी ही आवश्यकता है। किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेमें परिश्रम और यत्न करना पड़ता है परन्तु यहाँ तो केवल नित्यप्राप्त ब्रह्ममें ही अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है उस भ्रमको मिटा देना ही कर्त्तव्य है। वास्तवमें यह भ्रम ब्रह्मको नहीं है। यह भ्रम उसीमें है जो इस संसारके विकारको नित्य मानता है! वास्तवमें तो ब्रह्ममें भूल न होनेके कारण उसे मिटानेके लिये परिश्रम करना भी एक भ्रम ही है, परन्तु जबतक भूल है तबतक भूलको मिटानेका साधन करना चाहिये, अवश्य ही उन लोगोंको, जो इस भूलमें हैं। जो इस भूलको मानता है उसके लिये तो यह अनादिकालसे है। ऐसा कहा जाता है कि अनादि कालसे होनेवाली वस्तुका अन्त नहीं होता। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि भूल तो मिटनेवाली ही होती है, यदि भूल है तो उसका अन्त भी आवश्यक है। यदि ऐसा माना जाय कि यह सान्त नहीं है तो फिर किसीको भी 'प्राप्ति' नहीं हो सकती। इसलिये यह अनादि और सान्त अवश्य है। यदि यह माना जाय कि यह भूल अनादिकालसे नहीं है, पीछेसे हुई

है तो इसमें तीन दोष आते हैं प्रथम तो 'प्राप्त' पुरुषोंका पुनः भूलमें पड़ना सम्भव है, दूसरे सृष्टिकर्ता ईश्वरपर दोष आता है और तीसरे नये जीवोंका बनना सम्भव होता है। इस हेतुसे यह अनादि और सान्त ही सिद्ध होती है। वास्तवमें कालकी कल्पना भी मायामें ही है क्योंकि ब्रह्म तो शुद्ध और कालातीत है।

वेद, शास्त्र और तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका भी यह कथन है कि एक शुद्ध बोध ज्ञानस्वरूप परमात्मा ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है परन्तु किसी भी व्यक्तिके द्वारा 'संसार असत् है' यों कहा जाना उचित नहीं, क्योंकि वास्तवमें यों कहना बनता नहीं। संसारको असत् माननेसे संसारके रचयिता सृष्टिकर्ता ईश्वर, विधि-निषेधात्मक शास्त्र, लोक-परलोक और पाप-पुण्य आदि सभी व्यर्थ ठहरते हैं और इनको व्यर्थ कहना या मानना अनधिकारकी बात है। जिस वास्तविकतामें शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यका आत्यन्तिक अभाव है उसमें तो कुछ कहना बनता नहीं, कहना भी वहीं बनता है कि जहाँ अज्ञान है और जहाँ कहना बनता है वहाँ सृष्टिके रचयिता, संसार और शास्त्र आदि सब सत्य हैं और इन सबको सत्य मानकर ही शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। सात्त्विक आचरण और भगवान्‌की विशुद्ध भक्तिसे अन्तः-करणकी शुद्धि होनेपर जिस समय भ्रम मिट जाता है उसी समय साधक कृतकृत्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है!



निराकार-साकार-तत्त्व





एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और जो कुछ भी भासता है सो वास्तवमें नहीं है, केवल स्वप्नवत् प्रतीति होती है। वेद, वेदान्त और उपनिषद्‌का यही सर्वोच्च सिद्धान्त है, यही स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीका मत है और यही वास्तवमें न्यायसिद्ध सिद्धान्त है परन्तु यह बात इतनी ऊँची और गोपनीय है कि सहजहीमें सहसा इसका प्रकाश करना अनुचित है। इस सिद्धान्तको कहने और सुननेवाले बहुत ही थोड़े हुआ करते हैं, इसको कहनेका वही अधिकारी है, जो स्वयं इस स्थितिमें स्थित हो और सुननेका भी वही अधिकारी है जो सुननेके साथही इस स्थितिमें स्थित हो जाय। जो इस प्रकारके नहीं हैं उनको न कहनेका अधिकार है और न सुननेका। जिनको राग-द्वेष होता है, जो सांसारिक हानि-लाभमें दुःखित और हर्षित होते हैं, जो दुःख और सुखका भिन्न-भिन्न रूपसे अनुभव करते हैं तथा जो विषयलोलुप और इन्द्रियाराम हैं उनको तो इस सिद्धान्तके उपदेशसे उलटी हानि भी हो सकती है। वे लोग मान बैठते हैं कि जब संसार स्वप्नवत् है तो असत्य, व्यभिचार, हिंसा और छल-कपट आदि पाप भी स्वप्नवत् ही है। चाहे सो करो, कोई हानि तो होगी नहीं। यों मानकर वे लोग परिश्रमसाध्य सत्कर्मोंको त्यागकर भिन्न-भिन्न रूपसे पापाचरण करने लग जाते हैं क्योंकि सत्कर्मोंके करनेकी अपेक्षा उन्हें छोड़ देना और पाप-कर्मोंमें लग

जाना सहज है। इसीलिये अनधिकारियोंको इस सिद्धान्तका उपदेश न करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है। क्योंकि अनधिकारी लोग इस सिद्धान्तको यथार्थरूपसे न समझकर सत्कर्मोंको त्याग देते हैं, ज्ञानकी प्राप्ति उन्हें होती नहीं अतएव उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। यह दोहा प्रसिद्ध ही है–

ब्रह्मज्ञान उपज्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
तुलसी ऐसी आत्मा, सहज नरकमें जाय॥

इसलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥
(३। २६)

ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ सब कर्मोंको अच्छी तरह करता हुआ उनसे भी वैसे ही कर्म करावे।

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मोंमें यही अन्तर है कि ज्ञानीके कर्म अनासक्त भावसे स्वाभाविक होते हैं और अज्ञानीके कर्म आसक्तिसहित होते हैं। श्रीगीतामें कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(३। २५)

हे अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते

हैं वैसे ही अनासक्त हुआ ज्ञानी भी लोकशिक्षाको चाहता हुआ कर्म करे।

कहनेका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ब्रह्मकी चर्चा केवल अधिकारियोंमें ही होनी चाहिये।

लोग कह सकते हैं कि जब एक शुद्धब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो इससे सृष्टि और सृष्टिकर्ता ईश्वरका भी न होना ही सिद्ध होता है और यदि यही बात है तो फिर इनके प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणभूत शास्त्र और प्रत्यक्ष दीखनेवाली सृष्टि-की क्या दशा होगी ? इसका उत्तर यही है कि जैसे आकाश निराकार है, आकाशमें कहीं कोई आकार नहीं परन्तु कभी-कभी आकाशमें बादलके टुकड़े दीख पड़ते हैं, वे बादलके टुकड़े आकाशमें ही उत्पन्न होते हैं, उसीमें दीख पड़ते हैं और अन्तमें उसी आकाशमें शान्त हो जाते हैं। आकाशकी वास्तविक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता परन्तु आकाशका जितना स्थान बादलोंसे आवृत होता है उतने अंशमें उसका एक विशेष रूप दीखता है और उसमें वृष्टि आदिकी क्रिया भी होती है।

इसी प्रकार एक ही अनन्त शुद्ध ब्रह्ममें जितना अंश मायासे आच्छादित दीखता है उतने अंशका नाम सगुण ईश्वर है, वास्तवमें यह सगुण ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे कभी कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहीं किन्तु मायाके कारण भिन्न दीखनेसे सगुण ईश्वरको लोग भिन्न मानते हैं। यही भिन्नरूपसे दीख पड़नेवाला सगुण चैतन्य, सृष्टिकर्ता ईश्वर है; इसीको आदिपुरुष, पुरुषोत्तम और मायाविशिष्ट

ईश्वर कहते हैं। आकाशके अंशमें मेघोंकी भाँति इस सगुण चैतन्यमें जो यह सृष्टि दीखती है वह मायाका कार्य है। माया सृष्टिकर्ता ईश्वरकी शक्तिका नाम है। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति होती है उसी प्रकार सृष्टिकर्ता ईश्वर और उसकी शक्ति माया है। इसे ही प्रकृति कहते हैं और इसीका नाम अज्ञान है।

यह माया क्या है और कैसे उत्पन्न होती है? यह एक भिन्न विषय है अतएव इस विषयपर यहाँ कुछ न लिखकर मूल-विषयपर ही लिखा जाता है। इस वर्णनसे यह समझना चाहिये कि निराकार आकाशकी भाँति उस सर्वव्यापी अनन्त चेतनका नाम तो शुद्ध ब्रह्म है, वास्तवमें आकाशका दृष्टान्त भी एकदेशीय ही है क्योंकि आकाशकी तो सीमा भी है और उसका कोई आकार न होनेपर भी उसमें शब्दरूपी एक गुण भी है परन्तु शुद्ध ब्रह्म तो असीम, अनन्त, निर्गुण, केवल और एक ही है इसीलिये वह अनिर्वचनीय है और इसीलिये उसका उपदेश केवल उसी अधिकारीके प्रति किया जा सकता है, जो उसे धारण करनेमें समर्थ है। यह तो शुद्ध ब्रह्मकी बात हुई।

इसी शुद्ध ब्रह्मका जितना अंश, (आकाशके मेघोंसे आवृत अंशकी भाँति) अलग दीखता है वही मायाविशिष्ट सृष्टिकर्ता सगुण ईश्वर है और उसी परमात्माके एक अंशमें सारे ब्रह्माण्डकी स्थिति है। अस्तु!

अब इसके बाद साकार ईश्वर यानी अवतारका विषय आता है, जब वह सगुण ईश्वर आवश्यकता समझते हैं तभी वह अपनी मायाको अधीन करके जिस रूपमें कार्य करना होता है उसी रूपमें

प्रकट हो जाते हैं। कभी मनुष्यरूपमें, कभी वराह और नृसिंहरूपमें, कभी मत्स्य और कच्छपरूपमें, कभी हंस और अश्वरूपमें, इसी प्रकार आवश्यकतानुसार अनेक रूपोंमें ईश्वर साक्षात् अवतीर्ण हो लोगोंको दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं परन्तु उनका यों संसारमें प्रकट होना प्राकृत जीवोंके सदृश नहीं होता, ईश्वरके अवतीर्ण होनेका समय और हेतु भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(४। ७-८)

हे अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ, मैं साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये तथा धर्मकी स्थापनाके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।

इस समय पृथ्वीपर ऐसा कोई अवतार नहीं दीखता जो यों कह दे कि मैंने साधुओंका उद्धार करनेके लिये अवतार लिया है, संसारमें साधु अनेक मिल सकते हैं किन्तु उन साधुओंके उद्धारके लिये अवतीर्ण होकर आनेवाला कोई नहीं दीखता। भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति यों कहनेवाला कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

सब धर्मोंके आश्रयको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेवकी ही अनन्य शरण हो जा, मैं तुझको सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर !

यों एकमात्र अपनी शरणसे ही पापोंसे मुक्त कर देनेका वचन देनेवाला इस समय संसारमें कोई अवतार नहीं !

कुछ दिनों पहले एक सज्जनने मुझसे पूछा था कि पृथ्वीपर पाप तो बहुत बढ़ गया है क्या भगवान्‌के अवतार लेनेका समय अभी नहीं आया ? यदि आया है तो भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते ? मैंने उनसे कहा था कि मुझे मालूम नहीं। यह तो कोई बात ही नहीं कि मैं सभी बातोंका जानकार होऊँ, भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते, इस बातको भगवान् ही जानें। हाँ, यदि कोई मुझसे पूछे कि भगवान्‌के अवतार लेनेसे तुम प्रसन्न हो या नहीं, तो मैं यही कहूँगा कि मैं भगवान्‌के अवतार लेनेसे बहुत प्रसन्न हूँ क्योंकि इस समय यदि भगवान्‌का अवतार हो जाय तो मुझे भी उनके दर्शन हो सकते हैं। यदि कोई सरलतासे यह पूछे कि तुम्हारे अनुमानसे भगवान्‌के अवतार लेनेका समय अभी आया है या नहीं ? तो मैं अपने अनुमानसे यही कह सकता हूँ कि वह समय सम्भवतः अभी नहीं आया, यदि वह समय आया होता तो भगवान् अवतीर्ण हो जाते। कलियुगमें जैसा कुछ होना चाहिये अभीतक उससे कुछ अधिक नहीं हो रहा है। भगवान्‌के अन्य अवतारोंके समय जैसा अत्याचार बढ़ा था, धर्म और धर्मप्राण ऋषियोंकी जैसी दुर्दशा हुई थी वैसी अभी नहीं हुई है। भगवान् श्रीरामचन्द्रके समयमें तो राक्षसोंके द्वारा मारे हुए ऋषियोंकी हड्डियोंके ढेर लग गये थे।

प्रश्न—क्या ऋषियोंमें राक्षसोंके बध करनेका सामर्थ्य नहीं था और यदि था तो उन्होंने राक्षसोंका बध क्यों नहीं किया ?

उत्तर—ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य था, परन्तु वे अपना तपोबल क्षीण करना नहीं चाहते थे। जिस समय श्रीविश्वामित्रजीने महाराज दशरथके पास आकर यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीराम-लक्ष्मणको माँगा, उस समय भी उन्होंने यही कहा था कि "यद्यपि मैं राक्षसोंका बध स्वयं कर सकता हूँ परन्तु इससे मेरा तप क्षय होगा जिसको कि मैं करना नहीं चाहता। श्रीराम-लक्ष्मणके द्वारा राक्षसोंका बध होनेपर मेरे यज्ञकी रक्षा भी होगी तथा मेरा तपोबल भी सुरक्षित रह जायगा। श्रीराम-लक्ष्मण राक्षसोंको सहज-हीमें मार सकते हैं, इस बातको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते।' महाराज दशरथने मोहसे श्रीराम-लक्ष्मणको साधारण बालक समझ-कर अपत्य-स्नेहके वशीभूत हो विश्वामित्रसे कहा कि 'नाथ ! मैं स्वयं आपके साथ चलनेको तैयार हूँ, एक रावणको छोड़कर और सारे राक्षसोंको मार सकता हूँ। आप राम-लक्ष्मणको न लेकर मुझे ले चलिये।' इस प्रकार राजाको मोहमें पड़े हुए देखकर श्रीवसिष्ठजी महाराजने, जो भगवान् श्रीरामके प्रभावको तत्त्वसे जानते थे, दशरथजीको समझाकर कहा कि 'राजन् ! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो, ये साधारण बालक नहीं हैं, इन्हें कोई भय नहीं है, तुम प्रसन्नताके साथ इन्हें विश्वामित्रजीके साथ भेज दो !' इस प्रसंगसे यह जाना जाता है कि ऋषिगण सामर्थ्यवान् तो थे, परन्तु अपने तपोबलसे काम लेना नहीं चाहते थे।

कलियुगमें अभीतक ऐसा समय उपस्थित हुआ नहीं जान पड़ता कि जिससे भगवान्‌को अवतार लेना पड़े और भगवान् यों सहसा अवतार लिया भी नहीं करते। पहले तो वे कारक पुरुषोंको अपना अधिकार सौंपकर भेजते हैं, जैसे मालिक अपनी दूकान सँभालनेके लिये विश्वासी मुनीमको भेजता है। पर जब वह देखता है कि मुनीमसे कार्य सिद्ध नहीं होगा, मेरे स्वयं गये बिना काम नहीं चलेगा तब वह स्वयं जाता है; इसी प्रकार जब कारक पुरुषोंके भेज देनेपर भी भगवान्‌को अपने अवतार लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है तब वे स्वयं प्रकट होते हैं। कारक पुरुष उन्हें कहते हैं कि जो भगवत्कृपासे अपने पुरुषार्थद्वारा इस श्लोकके अनुसार—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

(गीता ८। २४)

भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा क्रमसे अग्रसर होते हुए अन्तमें भगवान्‌के सत्यलोकको पहुँचते हैं। इस लोकमें जानेवाले महात्माओंका स्वागत करनेके लिये भगवान्‌के पार्षद (अमानव पुरुष) विमान लेकर सामने आते हैं और उन्हें बड़े आदर-सत्कारके साथ भगवान्‌के उस परमधाममें ले जाते हैं। वह धाम प्रलयकालमें नाश नहीं होता, वहाँ किसी प्रकारका दुःख और शोक नहीं है। एक बार जो उस धाममें पहुँच जाता है उसका फिरसे कर्म-बन्धन-युक्त जन्म नहीं होता, इसी लोकको सम्भवतः श्रीविष्णुके उपासक वैकुण्ठ, श्रीकृष्णके उपासक गोलोक और श्रीरामके उपासक साकेत-लोक

कहते हैं। इस लोकमें पहुँचे हुए महात्मागण महाप्रलयपर्यन्त सुखपूर्वक वहाँ निवास कर अन्तमें शुद्धब्रह्ममें शान्त हो जाते हैं। ऐसे लोगोंमेंसे यदि कोई महापुरुष सृष्टिकर्ता भगवान्‌की प्रेरणासे अथवा अपनी इच्छासे केवल जगत्‌का हित करनेके लिये संसारमें आते हैं तो वे कारक पुरुष कहलाते हैं। ऐसे लोगोंके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे भी श्रद्धालु पुरुषोंका उद्धार हो सकता है। श्रीवसिष्ठजी और वेदव्यासजी महाराज आदि ऐसे ही महापुरुषोंमेंसे थे। इन लोगोंका जगत्‌में प्रकट होना केवल जगत्‌के उद्धारके लिये ही होता है, जिस प्रकार किसी कारागारमें पड़े हुए कैदियोंको मुक्त करनेके लिये किसी विशेष अवसरपर राजाके प्रतिनिधि अधिकार लेकर कारागारमें जाते हैं और वहाँ जाकर बन्धनमें पड़े हुए कैदियोंको बन्धनसे मुक्तकर, स्वतन्त्रतासे वापिस लौट आते हैं। जेलमें कैदी भी जाते हैं और राजाके प्रतिनिधि भी। भेद इतना ही है कि कैदी तो अपने किये हुए दुष्कर्मोंका फल भोगनेके लिये परवश होकर जेलके बन्धनमें जाते हैं और राजाके प्रतिनिधि स्वतन्त्रतासे दयाके कारण बन्धनमें पड़े हुए कैदियोंको मुक्त करनेके लिये जेलमें जाते हैं। इसी प्रकार कारक पुरुष भी संसारमें केवल बन्धनमें पड़े हुए जीवोंको मुक्त करनेके लिये ही प्रकट होते हैं। अवतारमें और कारक पुरुषमें यही अन्तर है कि अवतार तो कभी जीवभावको प्राप्त हुए ही नहीं और कारक पुरुष किसी कालमें जीवभावको प्राप्त थे परन्तु भगवत्-कृपासे अपने पुरुषार्थद्वारा क्रममुक्तिसे ये अन्तमें इस स्थितिको प्राप्त

हो गये। इस समय अवतार और कारक पुरुष तो जगत्में देखनेमें नहीं आते, जीवन्मुक्त महात्मा अलबत्ता मिल सकते हैं।

मुक्ति दो प्रकारकी होती है सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। जो इसी देहमें अज्ञानसे सर्वथा छूटकर नित्य, सत्य, आनन्द बोधस्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, जिनके सारे कर्म ज्ञानाग्निके द्वारा भस्म हो जाते हैं और जिनकी दृष्टिमें एक अनन्त और असीम परमात्मसत्ताके सिवा जगत्की भिन्न सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है। ऐसे महापुरुष तो जीवन्मुक्त कहलाते हैं, इसीका नाम सद्योमुक्ति है और जो उपर्युक्त क्रमसे लोकान्तरोंमें होते हुए परमधामतक पहुँचते हैं वे क्रममुक्त कहलाते हैं। इस मुक्तिके चार भेद हैं, यथा—सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य और सायुज्य। भगवान्के समीप निवास करनेका नाम सामीप्य है, भगवान्के समान स्वरूप प्राप्त होनेका नाम सारूप्य है, भगवान्के समान लोकमें निवास करनेका नाम सालोक्य है और भगवान्में मिल जानेका नाम सायुज्य है। जो दास-दासी वा माधुर्यभावसे भगवान्की भक्ति करते हैं उन्हें सामीप्य-मुक्ति, जो मित्रभावसे भजते हैं उन्हें सारूप्य-मुक्ति, जो वात्सल्यभावसे भजते हैं उन्हें सालोक्य-मुक्ति और जो वैरभावसे या ज्ञानमिश्रिता भक्तिसे भगवान्की उपासना करते हैं उन्हें सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है।

ऐसे महापुरुष इस समय भी जगत्में हैं। जीवन्मुक्त वही होता है जो पहले जीवभावको प्राप्त था, पीछेसे पुरुषार्थके द्वारा मुक्त हो गया। जैसे श्रीशुकदेवजी और राजा जनकादि।

जीवोंमें पहली श्रेणीमें तो कुछ ऐसे महापुरुष हैं कि जो

जीवभावसे मुक्त हो चुके हैं। दूसरे ऐसे लोग इस समय मिल सकते हैं कि जो दैवी सम्पत्तिका आश्रय लिये हुए मुक्तिके मार्गमें स्थित हैं और मुक्तिके बहुत समीप पहुँच चुके हैं, सम्भव है कि उनकी इसी जन्ममें मुक्ति हो जाय या किसीको एक जन्म और भी धारण करना पड़े। ऐसे पुरुष भी जीवन्मुक्तोंकी भाँति काम-क्रोध और शोक-हर्षके अधीन प्रायः नहीं होते।

प्रश्न—प्राचीन कालमें ऋषियोंके और महात्माओंके हर्ष-शोक हुए हैं, ऐसे लेख ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिनको राग-द्वेषके कारण हर्ष-शोकका विकार होता है वे तो जीवन्मुक्त नहीं समझे जा सकते, परन्तु यदि कर्तव्यवश लोकमर्यादाके लिये किसी-किसी अंशमें महात्माओंमें हर्ष-शोकका व्यवहार दीखता है तो कोई हानि नहीं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने तो सीताके हरण हो जानेपर और लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर बड़ा विलाप किया था, वह भी ऐसे शब्दोंमें और ऐसे भावसे कि जिसे देख-सुनकर बड़े-बड़े लोगोंको मोह-सा होने लगा था, किन्तु वह केवल भगवान्‌का व्यवहार था और उसमें तो एक विलक्षण बात और भी थी। भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजी और लक्ष्मणके लिये व्याकुलतासे विलापकर जगत्‌को महान् प्रेमकी और अपने मृदु स्वभावकी बड़ी भारी शिक्षा दी थी। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें अपना यह स्वभाव बतलाया है कि—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

'जो मेरेको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता

हूँ ।' इसीके अनुसार भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजीके लिये विलाप करते हुए वृक्षों, शाखाओं और पत्तोंसे समाचार पूछ-पूछकर यह सिद्ध कर दिया कि जिस तरहसे इस समय रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता, रामके प्रेममें निमग्न होकर 'राम-राम' पुकार रही है उसी प्रकार राम भी सीताके प्रेम-बन्धनमें बँधकर प्रेमसे विह्वल हो 'सीता-सीता' पुकार रहे हैं । यों ही लक्ष्मणके लिये विलापकर भगवान् श्रीरामने यह सिद्ध कर दिया कि रामके लिये लक्ष्मण जिस प्रकार व्याकुल हो सकता है, उसी प्रकार राम भी आज लक्ष्मणके लिये व्याकुल हैं । इससे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भगवान्को हम जिस प्रकार भजेंगे भगवान् भी हमें उसी प्रकार भजनेके लिये तैयार हैं । यह तो भगवान्की बात हुई पर ऋषि-महात्माओंमें भी लोक-व्यवहारमें हर्ष-शोकका-सा भाव हो सकता है ।

जीवन्मुक्त और मुक्तिके समीप पहुँचे हुए लोगोंकी बात तो हुई । अब संसारमें ऐसे पुण्यात्मा सकाम योगी भी हैं कि जो--

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

(गीता ८ । २५)

इस श्लोकके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा अग्रसर होते हुए चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापिस लौट आते हैं ।

पूर्वकालमें ऐसे योगी भी हुआ करते थे कि जिनको आठों

प्रकारकी अथवा उनमेंसे कोई-कोई-सी सिद्धियाँ प्राप्त रहती थीं, वर्तमान कालमें यह विद्या लुप्तप्राय हो चुकी है। वास्तवमें केवल सिद्धियोंकी प्राप्तिसे परम कल्याण भी नहीं होता। सिद्धियोंसे सांसारिक सुख मिल सकते हैं परन्तु मोक्ष नहीं मिलता, इसीलिये शास्त्र-कारोंने इन सिद्धियोंको मोक्षका बाधक और जागतिक सुखोंका साधक माना है। सिद्धियोंको प्राप्त करनेवाले योगी प्रायः सिद्धियोंमें ही रह जाते हैं परन्तु ऊपर कहे हुए मुक्तिके मार्गमें स्थित योगी तो मोक्षरूप परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं इसीलिये उनका दर्जा इनसे ऊँचा है।

प्रश्न—आठ सिद्धियाँ कौन-सी हैं, कैसे प्राप्त होती हैं और उनसे क्या-क्या काम होते हैं ?

उत्तर—सिद्धियोंके नाम अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व हैं, इनकी प्राप्ति अष्टाङ्गयोगके साधनसे होती है और इन सिद्धियोंसे इस प्रकार कार्य हो सकते हैं—

अणिमा—अपने स्वरूपको अणुके समान बना लेना, जैसे श्रीहनूमान्‌जी महाराजने लंकामें प्रवेश करनेके समय बनाया था।

गरिमा—शरीरको भारी वज़नदार बना लेना, जैसे कर्णके वाण चलानेपर अर्जुनको बचानेके लिये सारथीरूपसे रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने बनाया था और अपने भारसे घोड़ोंसमेत रथको जमीनमें बैठा दिया था।

महिमा—शरीरको महान् विशाल बना लेना जैसे भगवान् श्रीवामनजीने बनाया था।

लघिमा—शरीरको अत्यन्त हल्का बना लेना।

प्राप्ति—इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त कर लेना, जैसे भरद्वाज मुनिने भरतजीके आतिथ्यके समय किया था ।

प्राकाम्य—कामनाके अनुसार कार्य हो जाना ।

ईशित्व—ईश्वरके समान सृष्टि-रचना करनेका सामर्थ्य हो जाना ।

वशित्व—अपने प्रभावसे चाहे जिसको अपने वशमें कर लेना ।

ये आठ सिद्धियाँ हैं, आजकल इन सिद्धियोंको प्राप्त किये हुए पुरुष देखनेमें नहीं आते । सत्य-भाषणसे वाणीका सत्य हो जाना आदि उपसिद्धियोंको प्राप्त हुए पुरुष तो कहीं-कहीं मिल सकते हैं ।

प्रश्न—क्या सत्य बोलनेवालेकी वाणीसे निकले हुए सभी शब्द सत्य हो जाते हैं ?

उत्तर—अवश्य हो जाते हैं, उपनिषद् और पुराणादिमें इसके अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमें ऐसा हुआ करता था, छोटे-से ऋषिकुमारने राजा परीक्षितको शाप दे दिया था, तो उसीके अनुसार ठीक समयपर साँपने आकर परीक्षितको डस लिया । जब राजा नहुषने इन्द्रपदपर आरूढ़ होकर ऋषियोंको अपनी पालकीमें जोता और कामान्ध होकर इन्द्राणीके पास जाने लगा तथा 'शीघ्रं सर्प' कहकर ऋषिको ठुकराया था, तब ऋषिने कहा था कि, तुम सर्प हो जाओ, तदनुसार वह तुरन्त सांप हो गया । प्रार्थना करनेपर फिर उसीको यह वरदान दिया कि द्वापरयुगमें भीमको पकड़नेपर महाराज युधिष्ठिरसे तुम्हारी भेंट होगी तब तुम्हारा उद्धार

होगा, यह वचन भी सत्य हुआ। अतएव यह सिद्ध होता है कि सत्यवादीके मुखसे निकला हुआ प्रत्येक शब्द सत्य होता है। हाँ, यदि कोई सत्यवादी कभी जान-बूझकर असत्य बोले तो उतने शब्द सत्य नहीं होते, जैसे महाराज युधिष्ठिरने जान-बूझकर अश्वत्थामाके मरनेकी सन्दिग्ध बात कही थी तब अश्वत्थामा नहीं मरा परन्तु यदि कोई केवल सत्य ही बोले तो उसकी वाणीके सत्य होनेमें कोई सन्देह नहीं।

आजकल कुछ ऐसे पुरुष भी मिल सकते हैं कि जिन लोगोंने मन और इन्द्रियोंको प्रायः वशमें कर लिया है, जिनको महीनोंतक स्त्रीके साथ एक शय्यापर सोते रहनेपर भी कामोद्रेक नहीं होता, भोजनकी चाहे जैसी सामग्री सामने होनेपर भी मन नहीं चलता, क्रोध और शोकके बड़े भारी कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध और शोक नहीं होता। परन्तु ऐसा कोई महापुरुष मेरे देखनेमें नहीं आया कि जिसके दर्शन, स्पर्श, भाषण या चिन्तनसे ही उद्धार हो जाय, जैसे श्रीनारदजी महाराजके दर्शन और उपदेशसे लाखों ही प्राणियोंका उद्धार हो गया, श्रीशुकदेवजीके उपदेशसे लाखोंका कल्याण हुआ, जीवन्मुक्त आचार्योंके चिन्तनसे अनेक शिष्योंका उद्धार हुआ और बंगालके श्रीचैतन्यमहाप्रभुके दर्शन, स्पर्श और उपदेशसे हजारोंका कल्याण हुआ। इतना अवश्य कह सकता हूँ, कि यदि मनुष्य चाहे तो ऐसा बन सकता है कि जिसके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे ही लोगोंका उद्धार हो जाय।

कल्याणका तत्त्व


ब प्रकारके दुःखोंसे, विकारोंसे, गुणोंसे और कर्मोंसे सदाके लिये मुक्त होकर परम विज्ञान आनन्दमय कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेना ही परम कल्याण है। इसीको कोई मुक्ति, कोई परमपदकी प्राप्ति, कोई निर्वाणपदकी प्राप्ति और कोई मोक्ष कहते हैं। इस स्थितिको प्राप्त करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

(गीता ९ । ३२)

'मेरी शरण होनेवाले स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि (अन्त्यजादि) कोई भी हो (सब) परम गतिको प्राप्त होते हैं !' अतएव जो मनुष्य परमात्माके भजन-ध्यानद्वारा इस प्रकार संसारसे मुक्त होकर परमपदको पा जाता है उसीका मानवजीवन कृतार्थ होता है।

इस विषयमें लोग भिन्न-भिन्न प्रकारकी भ्रमात्मक बातें किया करते हैं जिनमेंसे मुख्य ये तीन हैं:—

१—'वर्तमान देश-कालमें या इस भूमिपर मुक्ति सम्भव नहीं है, एवं गृहस्थ और नीच वर्णोंमें मुक्ति नहीं होती !'

२—'मुक्तपुरुष दीर्घकालपर्यन्त मुक्तिका सुख भोगनेके बाद पुनः संसारमें जन्म लेते हैं।'

३—'मुक्ति ज्ञानसे होती है। काम, क्रोध, असत्य, चोरी और व्यभिचारादि विकारोंके रहते भी ज्ञान हो जानेपर मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है। उपर्युक्त विकार तो अन्तःकरणके धर्म हैं, जबतक अन्तःकरण है तबतक प्रारब्धानुसार इन विकारोंका रहना भी अनिवार्य है।'

ये तीनों ही विचार वास्तवमें न तो सत्य हैं और न लाभप्रद तथा युक्तियुक्त ही हैं। वरन् इनके माननेसे बड़ी हानि होती है तथा लोगोंमें भ्रम फैलता है इसलिये यहाँ इसी विषयपर क्रमशः विचार किया जाता है।

१—मुक्तिका कारण आत्मज्ञान है और उस आत्मसाक्षात्कार-के लिये निष्काम-कर्मयोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोगादि प्रत्येक देश-कालमें सुसाध्य उपाय वेद-शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं।

कोई खास युग, देश, वर्ण या आश्रममात्र ही मुक्तिका कारण नहीं माना गया है। साधनसम्पन्न होनेपर प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्ण-आश्रममें मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। उपर्युक्त गीताके श्लोकसे भी यही निर्णीत है। मुक्तिके लिये श्रुति-स्मृतियोंमें कहीं भी कलियुग भारतभूमि या किसी वर्णाश्रमका निषेध नहीं किया गया है। आजतकके सन्त-महात्माओंके जीवनचरित्रोंसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक देश, भूमि, वर्ण और आश्रममें साधन करनेपर मुक्ति हो सकती है! विष्णुपुराणमें एक प्रसंग है—

'ऐसा कौन-सा समय है कि जिसमें धर्मका थोड़ा-सा अनुष्ठान भी महत् फल देता हो,' इस विषयपर एक बार ऋषियोंमें बड़ी

बहस हुई, अन्तमें वे सब मिलकर इस प्रश्नका निर्णयात्मक उत्तर पानेके लिये भगवान् वेदव्यासके पास गये। व्यासजी महाराज उस समय भगवती भागीरथीमें स्नान कर रहे थे, ऋषिगण उनकी प्रतीक्षामें जाह्नवीके तटपर वृक्षोंकी छायामें बैठ गये। थोड़ी देरके बाद व्यासजीने बाहर निकलकर मुनियोंको सुनाते हुए क्रमशः ऐसा कहा 'कलियुग ही साधु है,' हे शूद्र! तुम्हीं साधु हो, तुम्हीं धन्य हो!' हे स्त्रियो! तुम धन्य हो, तुमसे अधिक धन्य और कौन है?' इससे मुनियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कौतूहलसे व्यासजीसे इन वचनोंका मर्म पूछा। व्यासदेवने कहा कि यही तुम्हारे विवादग्रस्त प्रश्नका उत्तर है। इन तीनोंमें मनुष्य अल्पायाससे ही परमगति पा सकता है। दूसरे युगोंमें, दूसरे वर्णोंमें और पुरुषोंमें तो बड़े साधनसे कहीं कुछ होता है, परन्तु—

स्वल्पेनैव प्रयत्नेन धर्मः सिद्ध्यति वै कलौ।
नरैरात्मगुणाम्भोभिः क्षालिताखिलकिल्बिषैः॥
शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषा तत्परैर्मुनिसत्तमाः।
तथा स्त्रीभिरनायासं पतिशुश्रूषयैव हि॥
ततस्त्रितयमप्येतन्मम धन्यतमं मतम्।

(विष्णुपुराण ६। २। ३४—३६)

'हे मुनिगण! कलियुगमें मनुष्य सद्वृत्तिका अवलम्बन करके थोड़े-से प्रयाससे ही सारे पापोंसे छूटकर धर्मकी सिद्धि पाता है। शूद्र द्विजसेवासे और स्त्रियाँ केवल पतिसेवासे अल्पायाससे ही

उत्तम गति पा सकती हैं। इसीलिये मैंने इन तीनोंको धन्यतम कहा है।' इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान देश-कालमें और स्त्री, शूद्रोंके लिये तो मुक्तिका पथ और भी सुगम है।

थोड़ी देरके लिये यदि यह भी मान लें कि वर्तमान देश-कालमें और प्रत्येक वर्णाश्रममें मुक्ति नहीं होती, लोग भूलसे ही उत्साह-पूर्वक मुक्तिके लिये साधनमें लगे हुए हैं तथापि यह तो नहीं माना जा सकता कि इस भूलसे वे कोई अपना नुकसान कर रहे हैं। मुक्ति न सही, परन्तु साधनका कुछ-न-कुछ तो उत्तम फल अवश्य ही होगा। सत्वगुणकी वृद्धि होगी, अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और दैवी-सम्पत्तिके गुणोंका विकास होगा। जब मुक्ति होती ही नहीं तब वह तो साधक और असाधक दोनोंकी ही नहीं होगी परन्तु साधकमें साधनसे सद्‌गुणोंकी वृद्धि होगी और साधनहीन मनुष्य कोरा-का-कोरा ही रह जायगा। इसके अतिरिक्त यदि वर्तमान देशकालमें प्रत्येक मनुष्यकी मुक्ति होती होगी तो साधककी तो हो ही जायगी परन्तु साधन न करनेवाला सर्वथा वञ्चित रह जायगा। जब वह साधनमें प्रवृत्त ही नहीं होगा तब मुक्ति कैसी ? अतएव वह वेचारा भ्रमसे इस परम लाभसे वञ्चित रहकर बारम्बार संसारके आवागमन-चक्रमें घूमता रहेगा। अतएव इस युक्तिसे भी प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्णाश्रममें मुक्तिका सुगम मानना ही उचित श्रेयस्कर और तर्कसिद्ध है।

२—श्रुति, स्मृति और उपनिषदादि सद्‌ग्रन्थोंमें कहींपर भी मुक्तपुरुषोंके पुनरागमन-सम्बन्धी प्रमाण नहीं मिलते। पुनरागमन

उन्हींका होता है जो सकामी पुण्यात्मा पुरुष अपने पुण्यबलसे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(गीता ९। २०-२१)

मुक्त पुरुषके सम्बन्धमें तो श्रुति-स्मृतियोंमें स्थान-स्थानपर उनके पुनः संसारमें न आनेके ही प्रमाण मिलते हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(८। १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, परन्तु हे कौन्तेय! मुझको प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' 'इमं मानवमावर्तनाऽवर्तन्ते' 'तेषामिह न पुनरावृत्तिः'

आदि श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इन शास्त्र-वचनोंसे यह स्पष्ट सिद्ध

होता है कि मुक्त जीवोंका पुनरागमन कभी नहीं होता। जीवन्मुक्तोंके द्वारा लोकदृष्टिमें यथायोग्य सभी कार्य होते हुए प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तवमें उनका उन कार्योंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
(गीता ४। १९)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८। १७)

इसके सिवा उस मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें एक विशुद्ध विज्ञान-आनन्दघन परमात्म-तत्त्वके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जाता—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७। १९)

वह समझता है कि सभी कुछ केवल वासुदेव ही है। इसीलिये उसे मुक्त कहते हैं। ऐसे पुरुषका किसी कालमें भी इस मायामय संसारसे पुनः सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि उसकी दृष्टिमें संसारका सदाके लिये आत्यन्तिक अभाव हो जाता है! इस अवस्थामें उसका पुनरागमन क्योंकर हो सकता है?

यदि कोई यह कुतर्क करे कि यदि मुक्त जीवोंका पुनरागमन नहीं होगा तो मुक्त होते-होते एक दिन जगत्के सभी जीव मुक्त हो जायँगे तब तो सृष्टिकी सत्ता ही मिट जायगी। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो ऐसा होना सम्भव नहीं क्योंकि—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७ । ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई मनुष्य मोक्षके लिये यत्न करता है, उन यत्न करनेवाले योगियोंमेंसे कोई पुरुष मुझको (परमात्माको) तत्त्वसे जानता है ।' इस अवस्थामें सभी जीवोंका मुक्त होना असम्भव है क्योंकि जीव असंख्य हैं । तथापि यदि किसी दिन 'सम्पूर्ण संसारके सभी जीव किसी तरह मुक्त हो जायँ' तो इसमें हानि ही कौन-सी है ? आजतक अनेक श्रेष्ठ पुरुष इससे पूर्व ऐसी चेष्टा कर चुके हैं । महात्मागण अब भी कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे । यदि किसी दिन उनका परिश्रम सफल हो जाय और अखिल जगत्के जीवोंका उद्धार हो जाय तो बहुत ही अच्छी बात है, इससे सिद्धान्तमें कौन-सी बाधा आती है ?

तर्कके लिये मान लिया जाय कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म न माननेवाले भूल करते हैं, पर इस भूलसे उनकी हानि क्या होती है ? इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरागमन माननेवाला भी वापस आवेगा और न माननेवाला भी । फल दोनोंका एक ही है । परन्तु कदाचित् यही सिद्धान्त सत्य हो कि 'मुक्त पुरुषका पुनरागमन नहीं होता' तब तो भूलसे पुनरागमन माननेवालेकी बड़ी हानि होगी, क्योंकि उस पुनरागमन माननेवालेको तो वह मुक्ति ही नहीं मिलेगी कि जिसमें पुनरागमन न होता हो । वह बेचारा भूलसे ही इस परम लाभसे वञ्चित रह

जायगा और पुनरागमन न माननेवाला मुक्त हो जायगा । इस न्यायसे भी पुनरागमन न मानना ही युक्तियुक्त लाभजनक और सर्वोत्तम सिद्ध होता है ।

३—श्रुति-स्मृति और उपनिषदादि किसी भी प्रामाणिक सद्ग्रन्थसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काम-क्रोधादि विकारोंके रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है । श्रीमद्भगवद्गीतामें तो स्पष्ट शब्दोंमें काम-क्रोध और लोभको नरकका त्रिविध द्वार बतलाया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

(१६ । २१)

श्रीगीतामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रश्नोत्तरसे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि समस्त पापोंका बीज 'काम' है और उसको आत्मज्ञानके द्वारा नष्ट करके ही साधक मुक्त हो सकता है । तीसरे अध्यायके ३६ वें श्लोकसे ४३ वें श्लोकपर्यन्त इसका विस्तारसे वर्णन है । जहाँतक काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकारों-से ही मनुष्यका छुटकारा नहीं होगा, वहाँतक उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? मुक्त पुरुषका वास्तवमें संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता । गीताजीमें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

(३ । १७-१८)

उसका अन्तःकरण मल-विक्षेप और आवरणसे सर्वदा रहित होकर शुद्ध हो जाता है, ऐसी स्थितिमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकार उसमें कैसे रह सकते हैं ? भगवान्‌ने कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

(गीता ५ । २५-२६)

"हर्षशोकौ जहाति" "तरति शोकमात्मवित्" आदि श्रुतियाँ भी इसके प्रमाणमें प्रसिद्ध हैं । शास्त्रोंमें जहाँ देखिये वहीं एक स्वरसे यही प्रमाण मिलता है । श्रीपरमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जब समस्त विकारोंकी जड़ आसक्तिका ही अत्यन्त अभाव हो जाता है तब उसके कार्यरूप अन्य विकार तो कैसे रह सकते हैं ? इन शास्त्रवचनोंसे यही सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्तके शुद्ध अन्तःकरण-में विकारोंका अस्तित्व मानना कदापि उचित नहीं है ।

यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि जीवन्मुक्तिके बाद भी काम-क्रोधादि विकारोंका लेश शेष रह जाता है और जो लोग उसका शेष रहना नहीं मानते, वे भूलसे ही काम-क्रोधादि विकारोंको जड़-से उखाड़नेकी धुनमें लगे रहते हैं, इसपर यह सोचना चाहिये कि क्या इस भूलसे उसका कोई नुकसान होता है ? यदि पक्षपात छोड़कर विचार किया जाय तो पता लगता है कि काम-क्रोधादि विकारोंके नाशका उपाय न करनेवालोंकी अपेक्षा उपाय करनेवाले

अधिक बुद्धिमान् हैं, क्योंकि उपाय करनेसे उनके विकार अधिक नष्ट होंगे और इससे वे कम-से-कम जीवन्मुक्तोंमें तो उत्तम ही माने जायँगे। एक मनुष्य अत्यन्त क्रोधी तथा कामी है और दूसरा इन दोनोंसे छूटा हुआ है और इस सिद्धान्तके अनुसार वे दोनों ही जीवन्मुक्त हैं। इस दशामें यह तो स्वाभाविक है कि इनमें काम-क्रोधपरायण मनुष्यकी अपेक्षा काम-क्रोध-रहित जीवन्मुक्त ही अधिक सम्माननीय होगा। इस दृष्टिसे भी काम-क्रोधादि विकारोंका नाश करना ही उचित सिद्ध होता है और यदि कहीं यही बात सत्य हो कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें कोई विकार शेष नहीं रहता तब तो विकारोंका शेष रहना माननेवालेकी केवल मुक्ति नहीं होगी सो ही बात नहीं परन्तु उसकी और भी बड़ी हानि होगी क्योंकि वह मिथ्या ज्ञानसे (गीता १८। २२ के अनुसार) ही अपनेको ज्ञानी और मुक्त मानकर अपने चरित्र-सुधारके पवित्र कार्यसे भी वञ्चित रह जायगा और काम-क्रोधादि विकारोंके मोहमय जालोंमें फँसकर अनेक प्रकारकी नरक-यन्त्रणा भोगता हुआ (गीता अध्याय १६ के श्लोक १६ से २० के अनुसार) लगातार संसार-चक्रमें भटकता फिरेगा। इसलिये यही सिद्धान्त सर्वोपरि मानना चाहिये कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि कोई भी विकार शेष नहीं रह जाते।

इसके सिवा मुक्तिके सम्बन्धमें लोग और भी अनेक प्रकारकी शंकाएँ किया करते हैं पर लेख बढ़ जानेके कारण उन सबपर विचार नहीं किया गया।

इस लेखसे पाठक समझ गये होंगे कि मुक्त पुरुष तीनों गुणोंसे सर्वथा अतीत होता है (गीता अ० १४ के १९ वें और २२ वें से २५ वें श्लोकतक इसका वर्णन है) इसीसे उसके अन्तःकरणमें कोई विकार या कोई भी कर्म शेष नहीं रहता और इसीलिये उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता। पुनर्जन्मका हेतु गुणोंका संग ही है। भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

पाठक यह भी समझ गये होंगे कि वर्तमान देशकालमें मुक्त होना कोई असम्भव बात नहीं है अतएव अब शीघ्र सावधान होकर कर्तव्यमें लग जाना चाहिये। आलस्यमें अबतक बहुत समय नष्ट हो चुका। अब तो सचेत होना चाहिये। मनुष्य-जीवनके एक भी अमूल्य क्षणको व्यर्थमें गँवाना उचित नहीं। गया हुआ समय किसी भी उपायसे वापिस नहीं मिल सकता। अतएव यथासाध्य शीघ्र ही सत्सङ्गके द्वारा अपने कल्याणका मार्ग समझकर उसपर आरूढ़ हो जाना चाहिये।

—यही कल्याणका तत्त्व है!

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।



कल्याण-प्राप्तिके उपाय



ल्याण मुक्तिको कहते हैं, यह शब्द परमपद या परमगतिका वाचक है । कल्याणको प्राप्त करनेके प्रधान उपाय तीन हैं—निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग और भक्तियोग अर्थात् ध्यानयोग । इनमें भक्तिका साधन स्वतन्त्र भी किया जा सकता है और निष्काम कर्मयोग एवं सांख्ययोगके साथ भी ।

निष्काम कर्मयोगका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके ३९ वें श्लोकसे ५३ वें श्लोकतक है और निष्काम कर्मयोग-द्वारा सिद्धिको प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षण इसी अध्यायके ५४ वें से ७२ वें श्लोकतक वर्णित है ।

ज्ञानयोगका विस्तारसे वर्णन द्वितीय अध्यायके ११ वें से ३० वें श्लोकतक है और उसीके अनुसार तृतीय अध्यायके २८ वें; पञ्चम अध्यायके ८ वें और ९ वें तथा चतुर्दश अध्यायके १९ वें श्लोकमें ज्ञानयोगीके कर्म करनेकी विधि बतलायी है । इसके अतिरिक्त पञ्चम अध्यायके १३ वें से २६ वें श्लोकतक ज्ञान और अष्टादश अध्यायके ४९ वें से ५५ वें श्लोकतक उपासनासहित ज्ञानयोगका वर्णन है ।

पञ्चम अध्यायके २७ वें से २९ वें; षष्ठ अध्यायके ११ वें से ३२ वें; अष्टम अध्यायके ५ वें से २२ वें; नवम अध्यायके ३० वें से ३४ वें;

दशम अध्यायके ८ वें से १२ वें; एकादश अध्यायके ३५ वें से ५५ वें और द्वादश अध्यायके २ से ८ वें श्लोकतक ध्यानयोग या भक्तियोगका वर्णन है, वास्तवमें ध्यानयोग और भक्तियोग एक ही वस्तु है। इसी प्रकार श्रीगीताजीके अन्यान्य स्थलोंमें भी तीनों साधनोंका भिन्न-भिन्न-रूपसे वर्णन है, इन सबमें वर्तमान समयके लिये कल्याणकी प्राप्तिका सबसे सुगम और उत्तम उपाय भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग है। इसका बड़ा सुन्दर उपदेश श्रीगीताजीके अष्टादश अध्यायके निम्नलिखित ११ श्लोकोंमें है—

भगवान् श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है । अतएव हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो ।'

'इस प्रकार तू मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि संकटोंसे अनायास ही तर जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ।'

'जो तू अहङ्कारको अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है क्योंकि क्षत्रियपनका स्वभाव तेरेको जबरदस्ती युद्धमें लगा देगा ।'

'हे अर्जुन ! जिस कर्मको तू मोहसे नहीं करना चाहता है उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा ।'

'क्योंकि हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, अतएव हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे परम शान्तिको एवं सनातन परम धामको प्राप्त होगा ।'

'इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है, इस रहस्ययुक्त ज्ञानको सम्पूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके फिर तू जैसे चाहता है वैसे ही कर यानी जैसी तेरी इच्छा हो वैसे ही कर ।'

'हे अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा ।'

'हे अर्जुन ! तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा-भक्ति-सहित निष्कामभावसे नाम-गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शंख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय

श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।'

'अतएव सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो; मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर!'

कैसा दिव्य उपदेश है! इसके सिवा ध्यानयोग और भक्तियोग-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें पातञ्जलयोगदर्शन ध्यानयोगका और नारदसूत्र तथा शाण्डिल्यसूत्र भक्तियोगके प्रधान ग्रन्थ हैं, अवश्य ही इनमें कुछ मतभेद है परन्तु इन ग्रन्थोंमें भक्तियोगका ही प्रतिपादन है, इन ग्रन्थोंको मनन करनेसे भक्तियोगका बहुत कुछ पता लग सकता है।

बहुत विस्तारसे न लिखकर मैंने श्रीगीताजीके कुछ श्लोकोंको उद्धृत कर तथा कुछकी केवल संख्या ही बतलाकर पाठकोंसे सङ्केत मात्र कर दिया है, यदि कोई सज्जन इन श्लोकोंके अर्थका मननकर उसके अनुसार चलना आरम्भ कर दें तो मेरी सम्मतिमें उनको परम कल्याण मोक्षकी प्राप्ति बहुत ही सुगमतासे हो सकती है।

भगवान् क्या हैं ?





गवान् क्या हैं ? इस सम्बन्धमें मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, वह मेरे अपने निश्चयकी बात है, हो सकता है कि मेरा निश्चय ठीक न हो। मैं यह नहीं कहता कि दूसरोंका निश्चय ठीक नहीं है। परन्तु मुझे अपने निश्चयमें कोई सन्देह नहीं है, मैं इस विषयमें संशयात्मा नहीं हूँ, तथापि दूसरोंके निश्चयको गलत बतानेका मुझे कोई अधिकार नहीं है।

भगवान् क्या हैं ? इन शब्दोंका वास्तविक उत्तर तो यही है कि इस बातको भगवान् ही जानते हैं। इसके सिवा भगवान्के विषयमें उन्हें तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी पुरुष उनके तटस्थ अर्थात् नजदीकका कुछ भाव बतला सकता है। वास्तवमें तो भगवान्के स्वरूपको भगवान् ही जानते हैं, तत्त्वज्ञ लोग संकेतके रूपमें भगवान्के स्वरूपका कुछ वर्णन कर सकते हैं परन्तु जो कुछ जानने और वर्णन करनेमें आता है, वास्तवमें भगवान् उससे और भी विलक्षण हैं। वेद, शास्त्र और मुनि महात्मा परमात्माके सम्बन्धमें सदासे कहते ही आ रहे हैं, किन्तु उनका वह कहना आजतक पूरा नहीं हुआ। अबतकके उनके सब वचनोंको मिलाकर या अलग-अलगकर, कोई परमात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन

करना चाहे, तो उसके द्वारा भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता। अधूरा ही रह जाता है। इस विवेचनमें यह तो निश्चय हो गया कि भगवान् हैं अवश्य, उनके होनेमें रत्तीभर भी शंका नहीं है, यह दृढ़ निश्चय है। अतएव जो आदमी भगवान्‌को अपने मनसे जैसा समझकर साधन कर रहे हैं, उसमें परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु सुधार कर लेना चाहिये। वास्तवमें साधन करनेवालोंमें कोई भी भूलमें नहीं हैं या एक तरहसे सभी भूलमें हैं। जो परमात्माके लिये साधन करता है, वह उसीके मार्गपर चलता है, इसलिये कोई भूलमें नहीं हैं और भूलमें इसलिये हैं कि जिस किसी एक वस्तुको साध्य या ध्येय मानकर वे उसकी प्राप्तिका साधन करते हैं, उनके उस साध्य या ध्येयसे वास्तविक परमात्माका स्वरूप अत्यन्त ही विलक्षण है। जो जानने, मानने और साधन करनेमें आता है, वह तो ध्येय परमात्माको बतानेवाला सांकेतिक लक्ष्य है। इसलिये जहाँतक उस ध्येयकी प्राप्ति नहीं होती, वहाँ-तक सभी भूलमें हैं ऐसा कहा गया है परन्तु इससे यह नहीं मानना चाहिये कि पहले भूलको ठीक करके फिर साधन करेंगे। ठीक तो कोई कर ही नहीं सकता, यथार्थ प्राप्तिके बाद आप ही ठीक हो जाता है। इससे पहले जो होता है, सो अनुमान होता है और उस अनुमानसे जो कुछ किया जाता है वही उसकी प्राप्तिका ठीक उपाय है। जैसे एक आदमी द्वितीयाके चन्द्रमाको देख चुका है, वह दूसरे न देखनेवालोंको इशारेसे बतलाता है कि तू मेरी नजरसे देख उस वृक्षसे चार अंगुल ऊँचा चन्द्रमा है। इस कथनसे

उसका लक्ष्य वृक्षकी ओरसे होकर चन्द्रमातक चला जाता है और वह चन्द्रमाको देख लेता है। वास्तवमें न तो वह उसकी आँखमें घुसकर ही देखता है और न चन्द्रमा उस वृक्षसे चार अंगुल ऊँचा ही है और न चन्द्र-मण्डल, जितना छोटा वह देखता है उतना छोटा ही है। परन्तु लक्ष्य बँध जानेसे वह उसे देख लेता है। कोई-कोई द्वितीयाके चन्द्रमाका लक्ष्य करानेके लिये सरपतसे बतलाते हैं, कोई इससे भी अधिक लक्ष्य करानेके लिये चूनेसे लकीर खींचकर या चित्र बनाकर उसे दिखाते हैं, परन्तु वास्तवमें चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपसे इनकी कुछ भी समता नहीं है। न तो इनमें चन्द्रमाका प्रकाश ही है, न यह उतने बड़े ही हैं और न इनमें चन्द्रमाके अन्य गुण ही हैं। इसी प्रकार लक्ष्यके द्वारा देखनेपर भगवान् देखे या जाने जा सकते हैं। वास्तवमें लक्ष्य और उनके असली स्वरूपमें वैसा ही अन्तर है कि जैसा चन्द्रमा और उसके लक्ष्यमें। चन्द्रमाका स्वरूप तो शायद कोई योगी बता भी सकता है, परन्तु भगवान्का स्वरूप कोई भी बता नहीं सकता, क्योंकि यह वाणीका विषय नहीं है। वह तो जब प्राप्त होगा, तभी मालूम होगा। जिसको प्राप्त होगा वह भी उसे समझा नहीं सकेगा। यह तो असली स्वरूपकी बात हुई। अब यह बतलाना है कि साधकके लिये यह ध्येय या लक्ष्य किस प्रकारका होना चाहिये और वह किस प्रकार समझा जा सकता है। इस विषयमें महात्माओंसे सुनकर और शास्त्रोंको सुन और देखकर, मेरे अनुभवमें जो बातें निश्चयात्मकरूपसे जँची हैं, वही बतलायी जाती हैं। किसीकी इच्छा हो तो वह इन्हें काममें ला सकता है।

परमात्माके असली स्वरूपका ध्यान तो वास्तवमें बन नहीं सकता। जबतक नेत्रोंसे, मनसे और बुद्धिसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव न हो जाय, तबतक जो ध्यान किया जाता है, वह अनुमानसे ही होता है। महात्माओंके द्वारा सुनकर, शास्त्रोंमें पढ़कर, चित्रादि देखकर साधन करनेसे साधकको परमात्माके दर्शन हो सकते हैं। पहले यह बात कही जा चुकी है कि जो परमात्माका जिस प्रकार ध्यान कर रहे हैं, वे वैसा ही करते रहें, परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं। कुछ सुधारकी आवश्यकता अवश्य है।

ध्यान कैसे करना चाहिये

कुछ लोग निराकार शुद्ध ब्रह्मका ध्यान करते हैं, कुछ साकार दो भुजावाले और कुछ चतुर्भुजधारी भगवान् विष्णुका ध्यान करते हैं, वास्तवमें भगवान् विष्णु, राम और कृष्ण जैसे एक हैं, वैसे ही देवी, शिव, गणेश और सूर्य भी उनसे कोई भिन्न नहीं। ऐसा अनुमान होता है कि लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणाके अनुसार एक ही परमात्माका निरूपण करनेके लिये, श्रीवेदव्यासजीने अठारह पुराणोंकी रचना की है, जिस देवके नामसे जो पुराण बना, उसमें उसीको सर्वोपरि, सृष्टिकर्ता, सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर बतलाया गया। वास्तवमें नाम-रूपके भेदसे सबमें उस एक ही परमात्माकी बात कही गयी है। नाम-रूपकी भावना साधक अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं, यदि कोई एक स्तम्भको ही परमात्मा मानकर उसका ध्यान करे तो वह भी परमात्माका ही ध्यान होता है, अवश्य ही लक्ष्यमें ईश्वरका पूर्ण भाव होना चाहिये।

साकार और निराकारके ध्यानमें साकारकी अपेक्षा निराकारका ध्यान कुछ कठिन है, फल दोनोंका एक ही है, केवल साधनमें भेद है। अतएव अपनी-अपनी प्रीतिके अनुसार साधक निराकार या साकारका ध्यान कर सकते हैं।

निराकारके उपासक साकारके भावको साथमें न रखकर केवल निराकारका ही ध्यान करें, तो भी कोई आपत्ति नहीं, परन्तु साकारका तत्त्व समझकर परमात्माको सर्वदेशी, विश्वरूप मानते हुए निराकारका ध्यान करें तो फल शीघ्र होता है। साकारका तत्त्व न समझनेसे कुछ विलम्बसे सफलता होती है।

साकारके उपासकको निराकार, व्यापक ब्रह्मका तत्त्व जाननेकी आवश्यकता है, इसीसे वह सुगमतापूर्वक शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है। भगवान्‌ने गीतामें प्रभाव समझकर ध्यान करनेकी ही बड़ाई की है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

हे अर्जुन! मेरेमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन, ध्यानमें लगे हुए* जो भक्तजन, अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मेरेको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ।

वास्तवमें निराकारके प्रभावको जानकर जो साकारका ध्यान

* अर्थात् गीता अ० ११। ५५ में बताये हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमें लगे हुए।

किया जाता है, वही भगवत्‌की शीघ्र प्राप्तिके लिये उत्तम और सुलभ साधन है। परन्तु परमात्माका असली स्वरूप इन दोनोंसे ही विलक्षण है, जिसका ध्यान नहीं किया जा सकता। निराकारके ध्यान करनेकी कई युक्तियाँ हैं। जिसको जो सुगम मालूम हो, वह उसीका अभ्यास करे। सबका फल एक ही है। कुछ युक्तियाँ यहाँपर बतलायी जाती हैं।

साधकको श्रीगीताके अ० ६। ११ से १३ के अनुसार, एकान्त स्थानमें स्वस्तिक या सिद्धासनसे बैठकर, नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखकर या आँखें बन्दकर (अपनी इच्छा-नुसार) नियमपूर्वक प्रतिदिन कम-से-कम तीन घण्टेका समय ध्यानके अभ्यासमें बिताना चाहिये। तीन घण्टे कोई न कर सके तो दो करे, दो नहीं तो एक घण्टे अवश्य ध्यान करना चाहिये। शुरू-शुरूमें मन न लगे तो पन्द्रह-बीस मिनिटसे आरम्भ कर धीरे-धीरे ध्यानका समय बढ़ाता रहे। बहुत शीघ्र प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकोंके लिये तीन घण्टेका अभ्यास आवश्यक है। ध्यानमें नाम-जपसे बड़ी सहायता मिलती है। ईश्वरके सभी नाम समान हैं, परन्तु निराकारकी उपासनामें ॐकार प्रधान है। योगदर्शनमें भी महर्षि पतञ्जलिने कहा है:—

'तस्य वाचकः प्रणवः।' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।'

(सा० पाद १। २७-२८)

उसका वाचक प्रणव (ॐ) है, उस प्रणवका जप करना और उसके अर्थ (परमात्मा) का ध्यान करना चाहिये।

इन सूत्रोंका मूल आधार—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।' (योग० १ । २३) है । इसमें भगवान्‌की शरण होनेको और उन दोनोंमेंसे पहलेमें भगवान्‌का नाम बतलाकर, दूसरेमें नाम-जप और स्वरूपका ध्यान करनेकी बात कही गयी है ।

महर्षि पतञ्जलिके परमेश्वरके स्वरूप-सम्बन्धी अन्य विचारोंके सम्बन्धमें मुझे यहाँपर कुछ नहीं कहना है । यहाँपर मेरा अभिप्राय केवल यही है कि, ध्यानका लक्ष्य ठीक करनेके लिये पतञ्जलिजीके कथनानुसार स्वरूपका ध्यान करते हुए नामका जप करना चाहिये । ॐ की जगह कोई 'आनन्दमय' या 'विज्ञानानन्दघन' ब्रह्मका जप करे, तो भी कोई आपत्ति नहीं है । भेद नामोंमें है, फलमें कोई फर्क नहीं है ।

जप सबसे उत्तम वह होता है, जो मनसे होता है, जिसमें जीभ हिलाने और ओष्ठसे उच्चारण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती । ऐसे जपमें ध्यान और जप दोनों साथ ही हो सकते हैं । अन्तःकरणके चार पदार्थोंमेंसे मन और बुद्धि दो प्रधान हैं, बुद्धिसे पहले परमात्माका स्वरूप निश्चय करके उसमें बुद्धि स्थिर कर ले, फिर मनसे उसी सर्वत्र परिपूर्ण आनन्दमयकी पुनः-पुनः आवृत्ति करता रहे । यह जप भी है और ध्यान भी । वास्तवमें आनन्दमयके जप और ध्यानमें कोई खास अन्तर नहीं है । दोनों काम एक साथ किये जा सकते हैं । दूसरी युक्ति श्वासके द्वारा जप करनेकी है । श्वासोंके आते और जाते समय कण्ठसे नामका जप करे, जीभ और ओष्ठको बन्दकर श्वासके साथ नामकी आवृत्ति करता रहे,

यही प्राणजप है, इसको प्राणद्वारा उपासना करते हैं। यह जप भी उच्च श्रेणीका है। यह न हो सके तो मनमें ध्यान करे और जीभसे उच्चारण करे परन्तु मेरी समझसे इनमें साधकके लिये अधिक सुगम और लाभप्रद श्वासके द्वारा किया जानेवाला जप है। यह तो जपकी बात हुई, असलमें जप तो निराकार और साकार दोनों प्रकारके ध्यानमें ही होना चाहिये। अब निराकारके ध्यानके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है—

एकान्त स्थानमें स्थिर आसनसे बैठकर एकाग्र-चित्तसे इस प्रकार अभ्यास करे। जो कोई भी वस्तु इन्द्रिय और मनसे प्रतीत हो उसीको कल्पित समझकर उसका त्याग करता रहे। जो कुछ प्रतीत होता है, सो है नहीं। स्थूल शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं हैं, इस प्रकार सबका अभाव करते-करते, अभाव करनेवाले पुरुषकी वह वृत्ति—(जिसे ज्ञान, विवेक और प्रत्यय भी कहते हैं, यह सब शुद्ध बुद्धिके कार्य हैं, यहाँपर बुद्धि ही इनका अधिकरण है, जिसके द्वारा परमात्माके स्वरूपका मनन होता है और प्रतीत होनेवाली प्रत्येक वस्तुमें यह नहीं है, यह नहीं है, ऐसा अभाव हो जाता है, इसीको वेदोंमें 'नेति-नेति'—ऐसा भी नहीं, ऐसा भी नहीं—कहा है।) अर्थात् दृश्यको अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाती है। उस वृत्तिका त्याग करना नहीं पड़ता, स्वयमेव हो जाता है। त्याग करनेमें तो त्याग करनेवाला, त्याज्य वस्तु और त्याग, यह त्रिपुटी आ जाती है। इसलिये त्याग करना नहीं बनता, त्याग हो जाता है। जैसे, इन्धनके अभावमें अग्नि स्वयमेव शान्त हो जाती है, इसी प्रकार विषयोंके सर्वथा अभाव-

से वृत्तियाँभी सर्वथा शान्त हो जाती हैं। शेषमें जो बच रहता है, वही परमात्माका स्वरूप है। इसीको निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।'

(योग० १।५१)

यहाँपर यह शंका होती है कि, त्यागके बाद त्यागी बचता है। वह अल्प है, परमात्मा महान् है, इसलिये बच रहनेवालेको ही परमात्माका स्वरूप कैसे कहा जाता है ? बात ठीक है परन्तु वह अल्प वहींतक है, जबतक वह एक सीमाबद्ध स्थानमें अपनेको मानकर बाकीकी सब जगह दूसरोंसे भरी हुई समझता है। दूसरी सब वस्तुओंका अभाव हो जानेपर, शेषमें, बचा हुआ केवल एक तत्त्व ही 'परमात्मतत्त्व' है। संसारको जडसे उखाड़कर फेंक देने-पर परमात्मा आप ही रह जाते हैं। उपाधियोंका नाश होते ही सारा भेद मिटकर अपार एकरूप परमात्माका स्वरूप रह जाता है, वही सब जगह परिपूर्ण और सभी देश-कालमें व्याप्त है। वास्तवमें देश-काल भी उसमें कल्पित ही है। वह तो एक ही पदार्थ है, जो अपने ही आपमें स्थित है, जो अनिर्वचनीय है और अचिन्त्य है। जब चिन्तन-का सर्वथा त्याग हो जाता है, तभी उस अचिन्त्य ब्रह्मका खजाना निकल पड़ता है, साधक उसमें जाकर मिल जाता है। जबतक अज्ञानकी आड़से दूसरे पदार्थ भरे हुए थे, तबतक वह खजाना अदृश्य था। अज्ञान मिटनेपर एक ही वस्तु रह जाती है, तब उसमें मिल जाना यानी सम्पूर्ण वृत्तियोंका शान्त होकर एक ही वस्तुका रह जाना निश्चित है।

महाकाशसे घटाकाश तभीतक अलग है, जबतक घड़ा फूट नहीं जाता। घड़ेका फूटना ही अज्ञानका नाश होना है, परन्तु यह दृष्टान्त भी पूरा नहीं घटता। कारण, घड़ा फूटनेपर तो उसके टूटे हुए टुकड़े आकाशका कुछ अंश रोक भी लेते हैं परन्तु यहाँ अज्ञानरूपी घड़ेके नाश हो जानेपर, ज्ञानका जरा-सा अंश रोकनेके लिये भी कोई पदार्थ नहीं बच रहता। भूल मिटते ही जगत्का सर्वथा अभाव हो जाता है। फिर जो बच रहता है, वही ब्रह्म है। उदाहरणार्थ जैसे, घटाकाश जीव है, महाकाश परमात्मा है। उपाधिरूपी घट नष्ट हो जानेपर दोनों एकरूप हो जाते हैं। एकरूप तो पहले भी थे, परन्तु उपाधि-भेदसे भेद प्रतीत होता था।

वास्तवमें आकाशका दृष्टान्त परमात्माके लिये सर्वदेशी नहीं है। आकाश जड़ है, परमात्मा जड़ नहीं। आकाश दृश्य है, परमात्मा दृश्य नहीं है। आकाश विकारी है, परमात्मा विकारशून्य है। आकाश अनित्य है, महाप्रलयमें इसका नाश होता है, परमात्मा नित्य है। आकाश शून्य है, उसमें सब कुछ समाता है, परमात्मा घन है, उसमें दूसरेका समाना सम्भव नहीं। आकाशसे परमात्मा अत्यन्त विलक्षण है। ब्रह्मके एक अंशमें माया है, जिसे अव्याकृत प्रकृति कहते हैं, उसके एक अंशमें महत्तत्त्व (समष्टि-बुद्धि) है, जिस बुद्धिसे सबकी बुद्धि होती है। उस बुद्धिके एक अंशमें अहंकार है, उस अहंकारके एक अंशमें आकाश, आकाशमें वायु, वायुमें अग्नि, अग्निमें जल और जलमें पृथ्वी। इस प्रकार प्रक्रियासे यह सिद्ध होता है कि, समस्त ब्रह्माण्ड मायाके एक अंशमें है और वह माया परमात्माके एक अंशमें है, इस न्यायसे आकाश तो

परमात्माकी तुलनामें अत्यन्त ही अल्प है परन्तु इस अल्पताका पता परमात्माके जाननेपर ही लगता है। जैसे, एक आदमी स्वप्न देखता है। स्वप्नमें उसे दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात आदि समस्त पदार्थ भासते हैं, बड़ा विस्तार दीख पड़ता है, परन्तु आँख खुलते ही उस सारी सृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाता है, फिर पता लगता है कि वह सृष्टि तो अपने ही संकल्पसे अपने ही अन्तर्गत थी, जो मेरे अन्दर थी, वह अवश्य ही मुझसे छोटी वस्तु थी, मैं तो उससे बड़ा हूँ। वास्तवमें तो थी ही नहीं, केवल कल्पना ही थी, परन्तु यदि थी भी तो अत्यन्त अल्प थी, मेरे एक अंशमें थी, मेरा ही संकल्प था अतएव मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं थी। यह ज्ञान आँख खुलनेपर—जागनेपर होता है, इसी प्रकार परमात्माके सच्चे स्वरूपमें जागनेपर यह सृष्टि भी नहीं रहती। यदि कहीं रहती है ऐसा मानें, तो वह महापुरुषोंके कथनानुसार परमात्माके एक जरा-से अंशमें और उसीके संकल्पमात्रमें रहती है।

इसलिये आकाशका दृष्टान्त परमात्मामें पूर्णरूपसे नहीं घटता। इतने ही अंशमें घटता है कि, मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाश निराकार है, ब्रह्म वास्तवमें वैसे ही निराकार है। मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाशकी अनन्तता भासती है, वैसे ही ब्रह्म सत्य अनन्त है। मनुष्यकी दृष्टिसे समझानेके लिये आकाशका उदाहरण है। इन सब वस्तुओंका अभाव होनेपर प्राप्त होनेवाली चीज कैसी है, उसका स्वरूप कोई नहीं कह सकता, वह तो अत्यन्त विलक्षण है। सूक्ष्मभावके तत्त्वज्ञ सूक्ष्मदर्शी महात्मागण उसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

कहते हैं। वह अपार है, असीम है, चेतन है, ज्ञाता है, घन है, आनन्दमय है, सुखरूप है, सत् है, नित्य है। इस प्रकारके विशेषणोंसे वे विलक्षण वस्तुका निर्देश करते हैं। उसकी प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी पतन नहीं होता। दुःख, क्लेश, दुर्गुण, शोक, अल्पता, विक्षेप, अज्ञान और पाप आदि सब विकारोंकी सदाके लिये आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। एक सत्य, ज्ञान, बोध आनन्दरूप ब्रह्मके बाहुल्यकी जागृति रहती है। यह जागृति भी केवल समझानेके लिये ही है। वास्तवमें तो कुछ कहा नहीं जा सकता।

'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥'

(गीता १३। १२)

वह आदिरहित परब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है।

यदि ज्ञानका भोक्ता कहें तो कोई भोग नहीं है। यदि ज्ञानरूप या सुखरूप कहें तो कोई भोक्ता नहीं है। भोक्ता, भोग, भोग्य सब कुछ एक ही रह जाता है, वह एक ऐसी चीज है जिसमें त्रिपुटी रहती ही नहीं। एक तो यह निराकारके ध्यानकी विधि है।

ध्यानकी दूसरी विधि

एकान्त स्थानमें बैठकर आँखें मूँदकर ऐसी भावना करे कि, मानो सत् चित् आनन्दघनरूपी समुद्रकी अत्यन्त बाढ़ आ गयी है और मैं उसमें गहरा डूबा हुआ हूँ। अनन्त-विज्ञानानन्दघन समुद्रमें निमग्न हूँ। समस्त संसार परमात्माके संकल्पमें था, उसने संकल्प त्याग दिया, इससे मेरे सिवा सारे संसारका अभाव होकर,

सर्वत्र एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह गये । मैं परमात्माका ध्यान करता हूँ तो परमात्माके संकल्पमें मैं हूँ, मेरे सिवा और सबका अभाव हो गया । जब परमात्मा मेरा संकल्प छोड़ देंगे, तब मैं भी नहीं रहूँगा, केवल परमात्मा ही रह जायँगे । यदि परमात्मा मेरा संकल्प त्याग न कर मुझे स्मरण रक्खें तो भी बड़े आनन्दकी बात है । इस प्रकार भेदसहित निराकारकी उपासना करे ।

इसमें साधनकालमें भेद है और सिद्धकालमें अभेद है, परमात्माने संकल्प छोड़ दिया, बस एक परमात्मा ही रह गये । एक युक्ति यह है । इसके अतिरिक्त निराकारके ध्यानकी और भी कई युक्तियाँ हैं, उनमेंसे दो युक्तियाँ 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय' शीर्षक लेखमें बतलायी गयी हैं, वहाँ देखनी चाहिये । कहनेका अभिप्राय यह है कि निराकारका ध्यान दो प्रकारसे होता है,भेदसे और अभेदसे । दोनों-का फल एक अभेद परमात्माकी प्राप्ति ही है । जो लोग जीवको सदा अल्प मानकर परमात्मासे कभी उसका अभेद नहीं मानते, उनकी मुक्ति भी अल्प होती है, सदाके लिये वे मुक्त नहीं होते । उन्हें प्रलयकालके बाद वापस लौटना ही पड़ता है, इस मुक्तिवादसे वे ब्रह्मको प्राप्त हो करके भी अलग रह जाते हैं ।

अब साकारके ध्यानके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है । साकार-की उपासनाके फल दोनों प्रकारके होते हैं । साधक यदि सद्योमुक्ति चाहता है, शुद्ध ब्रह्ममें एकरूपसे मिलना चाहता है तो उसमें मिल जाता है, उसकी सद्योमुक्ति हो जाती है परन्तु यदि वह ऐसी इच्छा करता है कि मैं दास, सेवक या सखा बनकर भगवान्-

के समीप निवासकर प्रेमानन्दका भोग करूँ या अलग रहकर संसारमें भगवत्प्रेम-प्रचाररूप परम सेवा करूँ तो उसको सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य आदि मुक्तियोंमेंसे यथारुचि कोई-सी मुक्ति मिल जाती है और वह मृत्युके बाद भगवान्के परम नित्यधाममें चला जाता है। महाप्रलयतक नित्यधाममें रहकर अन्तमें परमात्मामें मिल जाता है। या संसारका उद्धार करनेके लिये कारक पुरुष बनकर जन्म भी ले सकता है परन्तु जन्म लेनेपर भी वह किसी फँसावटमें नहीं फँसता। माया उसे किञ्चित् भी दुःख-कष्ट नहीं पहुँचा सकती, वह नित्य मुक्त ही रहता है। जिस नित्यधाममें ऐसा साधक जाता है वह परमधाम सर्वोपरि है, सबसे श्रेष्ठ है। उससे परे एक सच्चिदानन्दघन निराकार शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह सदासे है, सब लोक नाश होनेपर भी वह बना रहता है। उसका स्वरूप कैसा है? इस बातको वही जानता है जो वहाँ पहुँच जाता है। वहाँ जानेपर सारी भूलें मिट जाती हैं। उसके सम्बन्धकी सम्पूर्ण भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ वहाँ पहुँचनेपर एक यथार्थ सत्यस्वरूपमें परिणत हो जाती हैं। महात्मागण कहते हैं कि वहाँ पहुँचे हुए भक्तोंको प्रायः वह सब शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जो भगवान्में हैं परन्तु वे भक्त भगवान्के सृष्टिकार्यके विरुद्ध उनका उपयोग कभी नहीं करते। उस महामहिम प्रभुके दास, सखा या सेवक बनकर जो उस परमधाममें सदा समीप निवास करते हैं वे सर्वदा उसकी आज्ञामें ही चलते हैं। गीताके अ० ८। २४ का श्लोक इस परमधाममें जानेवाले साधकके लिये ही है। बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद्में भी इस अर्चिमार्गका विस्तृत वर्णन है।

इस नित्यधामको ही सम्भवतः भगवान् श्रीकृष्णके उपासक गोलोक, भगवान् श्रीरामके उपासक साकेतलोक कहते हैं। वेदमें इसीको सत्यलोक और ब्रह्मलोक कहा है। (वह ब्रह्मलोक नहीं जिसमें ब्रह्माजी निवास करते हैं, जिसका वर्णन गीता अध्याय ८ के १६ वें श्लोकके पूर्वार्धमें है।) भगवान् साकाररूपसे अपने इसी नित्यधाममें विराजते हैं। साकाररूप मानकर नित्य परमधाम न मानना बड़ी भूलकी बात है।

भक्तोंके लिये भगवान् साकार कैसे बनते हैं ?

परमात्मा सत् चित् आनन्दघन नित्य अपाररूपसे सभी जगह परिपूर्ण हैं। उदाहरणके लिये अग्निका नाम लिया जा सकता है। अग्नि निराकाररूपसे सभी स्थानोंमें व्याप्त है, प्रकट करनेकी सामग्री एकत्र करके साधन करनेसे ही वह प्रकट हो जाती है। प्रकट होनेपर उसका व्यक्तरूप उतना ही लम्बा-चौड़ा दीख पड़ता है, जितना लकड़ी आदि पदार्थका होता है। इसी प्रकार गुप्तरूपसे सर्वत्र व्यापक अदृश्य सूक्ष्म निराकार परमात्मा भी भक्तकी इच्छानुसार साकाररूपमें प्रकट होते हैं। वास्तवमें अग्निकी व्यापकताका उदाहरण भी एकदेशीय है क्योंकि जहाँ केवल आकाश या वायुतत्त्व है, वहाँ अग्नि नहीं है परन्तु परमात्मा तो सब जगह परिपूर्ण है, परमात्माकी व्यापकता सबसे श्रेष्ठ और विलक्षण है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ परमात्मा न हो और संसारमें ऐसी भी कोई जगह नहीं कि जहाँ परमात्माकी माया न हो। जहाँ देश-काल हैं वहीं माया है। मायारूप सामग्रीको लेकर परमात्मा चाहे

जहाँ प्रकट हो सकते हैं। जहाँ जल है और शीतलता है, वहीं वर्फ जम सकती है। जहाँ मिट्टी और कुम्हार है, वहीं घड़ा बन सकता है। जल और मिट्टी तो शायद सब जगह न भी मिले परन्तु परमात्मा और उनकी माया तो संसारमें सभी जगह मिलती है, ऐसी स्थितिमें उनके प्रकट होनेमें कठिनता ही क्या है ? भक्त-का प्रेम चाहिये।

'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमतें प्रकट होहिं मैं जाना॥'

निराकारकी व्यापकताका विचार तो सभी कर सकते हैं परन्तु साकाररूपसे तो भगवान् केवल भक्तको ही दीखते हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं चाहे जैसे कर सकते हैं। एकको, अनेकको या सबको एक साथ दर्शन दे सकते हैं, उनकी इच्छा है। अवश्य ही वह इच्छा लड़कोंके खेलकी तरह दोषयुक्त नहीं होती है। उनकी इच्छा विशुद्ध होती है। भक्तकी इच्छा भी भगवान्‌के भावानुसार ही होती है। भगवान्‌ने कहा है कि मैं भक्तके हृदयमें रहता हूँ। बात ठीक है। जैसे हम सबके शरीरमें निराकाररूपसे अग्नि स्थित है, उसी प्रकार भगवान् भी निराकार सत् चित् आनन्दघनरूपसे सभीके हृदयमें स्थित हैं परन्तु भक्तोंका हृदय शुद्ध होनेसे उसमें वे प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं, यही भक्त-हृदयकी विशेषता है। सूर्यका प्रतिबिम्ब काठ, पत्थर और दर्पणपर समान ही पड़ता है परन्तु स्वच्छ दर्पणमें तो वह दीखता है, काठ, पत्थरमें नहीं दीखता। इसी प्रकार भगवान् सबके हृदयमें रहनेपर भी अभक्तोंके काष्ठ-सदृश अशुद्ध हृदयमें दिखलायी नहीं देते और भक्तोंके स्वच्छ

दर्पण-सदृश शुद्ध हृदयमें प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। भक्त ध्यानमें उन्हें जैसा समझता है, वैसे ही वे उसके हृदयमें बसते हैं।

महात्मालोग कहा करते हैं कि जहाँ कीर्तन होता है वहाँ भगवान् स्वयं साकाररूपसे उपस्थित रहते हैं, कीर्तन करते हुए भक्तको साकाररूपमें दीखते भी हैं। यह नहीं समझना चाहिये कि यह केवल भक्तकी भावना ही है। वास्तवमें उसे सत्यरूपसे ही दीखते हैं। केवल प्रतीत होनेवाला तो मायाका कार्य है। भगवान् तो मायाशक्तिके प्रभु हैं। महापुरुषोंकी यह मान्यता सत्य है कि—

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।

यह हो सकता है कि भगवान् साकाररूपसे कीर्तनमें रहकर भी किसीको न दीखें परन्तु वे कीर्तनमें स्वयं रहते हैं इस बातपर विश्वास करना ही श्रेयस्कर है।

जब भगवान् चाहे जहाँ, जिस रूपमें भक्तकी इच्छानुसार प्रकट हो सकते हैं तब भक्त अपने भगवान्का किसी भी रूपमें ध्यान करे, फल एक ही होता है। मोरमुकुटधारी श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करे या धनुषबाणधारी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका करे। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् श्रीविष्णुका ध्यान करे या विश्वरूप विराट् परमात्माका, बात एक ही है। जिस रूपका ध्यान करे उसीको पूर्ण मानकर करना चाहिये। इसी प्रकार जप भी अपनी रुचिके अनुसार ॐ, राम, कृष्ण, हरि, नारायण, शिव आदि किसी भी भगवन्नामका करे, सबका फल एक ही है।

सगुणके ध्यानकी कुछ विधि 'प्रेमभक्तिप्रकाश' और 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय' * शीर्षक लेखोंमें है। वहाँ देख लेनी चाहिये।

अब यहाँ भगवान्के विश्वरूपके सम्बन्धमें कुछ कहना है। भगवान्ने अर्जुनको जो रूप दिखलाया था वह भी विश्वरूप था और वेदवर्णित भूर्भुवः स्वः रूप यह ब्रह्माण्ड भी भगवान्का विश्वरूप है। दोनों एक ही बात है। सारा विश्व ही भगवान्का स्वरूप है। स्थावर-जंगम सबमें साक्षात् परमात्मा विराजमान हैं। समस्त विश्वको परमात्माका स्वरूप मानकर उसका सत्कार और सेवा करना ही विश्वरूप परमात्माका सत्कार और सेवा करना है। विश्वमें जो दोष या विकार हैं, वह सब परमात्माके स्वरूपमें नहीं हैं। ये सब बाजीगरकी लीलाके समान क्रीड़ामात्र हैं। नामरूप सब खेल है। भगवान् तो सदा अपने ही स्वरूपमें स्थित हैं। निराकाररूपसे तो परमात्मा बर्फमें जलकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण हैं, बर्फमें जलसे भिन्न अन्य कोई वस्तु ही नहीं है। जलकी जगह बर्फका पिण्ड दीखता है, वास्तवमें कुछ है नहीं, इसी प्रकार उस शुद्ध ब्रह्ममें यह संसार दीखता है, वस्तुतः है नहीं।

सगुणरूपसे अग्निकी तरह अव्यक्त होकर व्यापक है, सो चाहे जब साकाररूपमें प्रकट हो सकता है, यही बात ऊपर कही गयी है, इसी व्यापक परमात्माको विष्णु कहते हैं, विष्णु-शब्दका अर्थ ही व्यापक होता है।

---

* 'प्रेमभक्तिप्रकाश' और 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय' नामक दोनों लेख पुस्तकाकार गीताप्रेससे अलग भी मिल सकते हैं।

भगवान् गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त हैं और केवल सद्गुणसम्पन्न हैं।

भगवान्में कोई भी गुण नहीं, वे गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुण उनमें हैं और उनमें केवल सद्गुण हैं, दुर्गुण हैं ही नहीं। ये तीनों ही बातें भगवान्के लिये कही जा सकती हैं। इस विषयको कुछ समझना चाहिये।

शुद्ध ब्रह्म निराकार चेतन विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी परमात्माका वास्तविक रूप सम्पूर्ण गुणोंसे सर्वथा अतीत है। जगत्के सारे गुण-अवगुण सत्, रज और तमसे बनते हैं। सत्, रज, तम तीनों गुण मायाके अन्तर्गत हैं, इसीसे उसका नाम त्रिगुणमयी माया है। इनमें सत्त्व उत्तम है, रज मध्यम है और तम अधम है। परमात्मा इस मायासे अत्यन्त विलक्षण, सर्वथा अतीत और गुणरहित है, इसीसे उसका नाम शुद्ध है। अतएव वह गुणातीत है।

माया वास्तवमें है तो नहीं, यदि कहीं मानी जाय तो वह भी कल्पनामात्र है। यह मायाकी कल्पना परमात्माके एक अंशमें है। गुण-अवगुण सब मायामें है। इस न्यायसे सत्य, दया, त्याग, विचार और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि गुण और अवगुणोंसे युक्त यह सम्पूर्ण संसार उस परमात्मामें ही अध्यारोपित है। इसीसे सभी सद्गुण और दुर्गुण उसीमें आरोपित माने जा सकते हैं। इस स्थितिमें वह बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त कहा जा सकता है।

यह ब्रह्माण्ड जिसके अन्तर्गत है, वह मायाविशिष्ट ब्रह्म सृष्टिकर्ता ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, वह मायाको अपने अधीन

करके प्रादुर्भूत होता है, समय-समयपर अवतार धारण करता है इसीसे उसे मायाविशिष्ट कहते हैं। गीतामें कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

(४। ६)

जैसे अवतार होते हैं वैसे ही सृष्टिकी आदिमें भी मायाको अपने अधीन करके ही भगवान् प्रकट होते हैं। इन्हींका नाम विष्णु है, ये आदिपुरुष विष्णु सर्वसत्त्वगुणसम्पन्न हैं। सत्त्व-गुणकी मूर्ति हैं। सात्त्विक तेज, प्रभाव, सामर्थ्य, विभूति आदिसे विभूषित हैं। दैवीसम्पदाके गुण ही सत्त्वगुण हैं। शुद्ध सत्त्व ही उनका स्वरूप है। दुर्गुण तो रज और तममें रहते हैं, प्रेम सादृश्यता और समानतामें होता है, इसीसे जिस भक्तमें दैवी सम्पत्तिके गुण होते हैं वही भगवान्‌के दर्शनका उपयुक्त पात्र समझा जाता है। मायाविशिष्ट सगुण भगवान् मायाको साथ लेकर समय-समयपर अवतार धारण किया करते हैं। वे सर्वगुण-सम्पन्न हैं। शुद्ध, स्वतन्त्र, प्रभु और सर्वशक्तिमान् हैं। ऐसी कोई भी बात नहीं जो वे नहीं कर सकें। इसीलिये, यद्यपि उन शुद्ध सत्त्वगुणरूप सगुण साकार परमात्मामें रज और तम वास्तवमें नहीं रहते तथापि वह रज-तमका कार्य कर सकते हैं। भगवान् विष्णु दुष्टदलनरूप हिंसात्मक कार्य करते हुए दीख पड़ते हैं। मानव-दृष्टिसे उनमें हिंसा या तमकी प्रतीति होती है परन्तु वस्तुतः उनमें यह बात नहीं है। न्यायकारी होनेके कारण वे यथावश्यक

कार्य करते हैं। राजा जनक मुक्तपुरुष थे, परम सात्त्विक थे, परन्तु राजा होनेके कारण न्याय करना उनका काम था। चोरोंको वे दण्ड भी दिया करते थे। इसमें कोई दोषकी बात भी नहीं। माता अपने प्यारे बच्चेको शिक्षा देनेके लिये धमकाती और किसी समय आवश्यक समझकर हितभरे हृदयसे एक-आध थप्पड़ भी जमा देती है परन्तु ऐसा करनेमें उसकी दया ही भरी रहती है। इसी प्रकार दयानिधि न्यायकारी भगवान्का दण्डविधान भी दयासे युक्त ही होता है। धर्मानुकूल काम भी भगवान् है। भगवान्ने कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

धर्मयुक्त काम मैं हूँ, परन्तु पापयुक्त नहीं। भगवान् सत् हैं, सात्त्विक हैं, शुद्ध सत्त्व हैं। वे मायाकी शुद्धसत्त्वविद्यासे सम्पन्न हैं। जीव अविद्यासम्पन्न है। विद्यामें ज्ञान है, प्रकाश है, वहाँ अवगुण या अन्धकार ठहर ही कैसे सकता है ? अवगुण तो अविद्यामें रहते हैं। इस न्यायसे भगवान् केवल सद्गुणसम्पन्न हैं।

ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि परमात्मा गुणातीत, गुणागुणयुक्त और केवल सत्त्वगुणसम्पन्न कहे जा सकते हैं।

भगवान्का स्वरूप
और
निराकार-साकारकी एकता।

शरीरके तीन भेद हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। जो दीख पड़ता है सो स्थूल है, जो मरनेपर साथ जाता है वह सूक्ष्म है और जो मायामें लय हो जाता है वह कारण है। शरीरके ये

तीनों भेद नित्य भी देखे जाते हैं। जाग्रत्‌में स्थूल शरीर काम करता है। स्वप्नमें सूक्ष्म और सुषुप्तिमें कारण रहता है। इसी प्रकार परमात्माके भी तीन स्वरूप कहे जा सकते हैं। महाप्रलयमें रहनेवाला परमात्माका कारण स्वरूप है, सारा विश्व उसीमें लय होकर रहता है, उस समय केवल परमेश्वर और उनकी प्रकृति रहते हैं, सारे जीव प्रकृतिके अन्दर लय हो जाते हैं। जीवमें भी प्रकृति-पुरुष दोनोंका अंश है। चेतनता परमात्माका अंश है और अज्ञान प्रकृतिका। मायाकी उपाधिके कारण महाप्रलयमें भी जीव मुक्त नहीं होते। उसके बाद सृष्टिकी आदिमें फिर सोकर जाग उठनेके समान अपने-अपने कर्मफलानुरूप नानारूपोंमें जाग उठते हैं। इस प्रकार महाप्रलयमें परमात्माका रूप कारण कहा जा सकता है।

परमात्माका सूक्ष्म रूप सब जगह रहता है, इसीका नाम आदि-पुरुष है, सृष्टिका आदिकारण यही है, इसीका नाम पुरुषोत्तम, सृष्टिकर्ता ईश्वर है।

परमात्मा स्थूलरूपसे शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् विष्णु हैं, जो सदा नित्यधाममें विराजते हैं।

भक्तकी भावनाके अनुसार ही भगवान् बन जाते हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड परमात्माका शरीर है, इसीके अन्दर अपना शरीर है, इस न्यायसे हम सब भी परमात्माके पेटमें हैं।

एक तत्त्वकी बात और समझनी चाहिये। जब आकाश निर्मल होता है, सूर्य उगे हुए होते हैं, उस समय सूर्यके और अपने बीचमें आकाशमें कोई चीज नहीं दीखती परन्तु वहाँ जल

रहता है। यह मानना पड़ेगा कि सूर्य और अपने बीचमें जल भरा हुआ है परन्तु वह दीखता नहीं, क्योंकि वह सूक्ष्म और परमाणुरूपमें रहता है, जब उसमें घनता आती है तब क्रमशः उसका रूप स्थूल होकर व्यक्त होने लगता है। सूर्यदेवके तापसे भाप बनती है, जब भाप घन होती है तब उसके बादल बन जाते हैं, फिर उनमें जलका सञ्चार होता है। पानीके बादल पहाड़परसे चले जाते हों, उस समय कोई वहाँ चला जाय तो वर्षा न होनेपर भी उसके कपड़े भींग जाते हैं। बादलमें जलकी घनता होनेपर बूँदें बन जाती हैं और घनता होती है तो वही ओले बनकर बरसने लगता है। फिर वह ओले या बर्फ गर्मी पहुँचते ही गलकर पानी हो जाते हैं और अधिक गर्मी होनेपर उसीकी फिर भाप बन जाती है, भाप आकाशमें उड़कर अदृश्य हो जाती है और अन्तमें जल फिर उसी परमाणु अव्यक्तरूपमें परिणत हो जाता है। इस परमाणुरूपमें स्थित जलको—अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुको सहस्रगुण स्थूल दिखलानेवाले यन्त्रसे भी कोई नहीं देख सकता। पर जल रहता अवश्य है, न रहता तो आता कहाँसे ?

इस दृष्टान्तके अनुसार परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

> अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
> भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
> अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
> अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥
>
> (८।३।४)

अर्जुनके सात प्रश्नोंमें छः प्रश्न ये थे कि, ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत क्या है, अधिदैव क्या है और अधियज्ञ क्या है ? भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकोंमें इनका यह उत्तर दिया कि, अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म है, शास्त्रोक्त त्याग कर्म है, नाश होनेवाले पदार्थ अधिभूत हैं, समष्टिप्राणरूपसे हिरण्यगर्भ द्वितीय पुरुष अधिदैव है और निराकार व्यापक विष्णु अधियज्ञ मैं हूँ ।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे इसका दार्ष्टान्त इस प्रकार समझा जा सकता है ।

(१) परमाणुरूप जलके स्थानमें—

शुद्ध सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्मा, जिसमें यह संसार न तो कभी हुआ और न है; जो केवल अतीत, परम, अक्षर है ।

(२) भापरूप जल—

वही शुद्ध ब्रह्म अधियज्ञ निराकाररूपसे व्याप्त रहनेवाला मायाविशिष्ट ईश्वर ।

(३) बादल—

अधिदैव, सबका प्राणाधार हिरण्यगर्भ ब्रह्मा । सत्रह तत्त्वोंके समूहको सूक्ष्म कहते हैं, इनमें प्राण प्रधान है । सबके प्राण मिलकर समष्टिप्राण हो जाते हैं, यह समष्टिप्राण प्रलयमें भी रहता है, महाप्रलयमें नहीं । यह सत्रह तत्त्वोंका समूह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा-का सूक्ष्म शरीर है ।

(४) जलकी लाखों करोड़ों बूँदें—

जगत्‌के सब जीव ।

(५) वर्षा–

जीवोंकी क्रिया।

(६) जलके ओले या वर्फ–

पञ्चभूतोंकी अत्यन्त स्थूल सृष्टि।

इस सृष्टिका स्वरूप इतना स्थूल और विनाशशील है कि जरा-सा ताप लगते ही क्षणभरमें ओलोंके गलकर पानी हो जानेके सदृश तुरन्त गल जाता है। यहाँ ताप ज्ञानाग्निरूप वह प्रकाश है, जिसके पैदा होते ही स्थूल सृष्टिरूपी ओले तुरन्त गल जाते हैं।

अज्ञान ही सरदी है। जितना अज्ञान होता है उतनी स्थूलता होती है और जितना ज्ञान होता है उतनी ही सूक्ष्मता होती है। जो पदार्थ जितना भारी होता है, वह उतना ही नीचे गिरता है, जितना हलका होता है उतना ही ऊपरको उठता है। अज्ञान ही बोझा है, जलके अत्यन्त स्थूल होनेपर जब वह वर्फ बन जाता है तभी उसे नीचे गिरना पड़ता है, इसी प्रकार अज्ञानके बोझसे स्थूल हो जानेपर जीवको गिरना पड़ता है।

ज्ञानरूपी तापके प्राप्त होते ही संसारका बोझ उतर जाता है और जैसे तापसे गलकर जल बननेपर और भी ताप प्राप्त होनेसे वह जल धूआँ या भाप होकर ऊपर उड़ जाता है, वैसे ही जीव भी ऊपर उठ जाता है।

जीवात्मा खास ईश्वरका स्वरूप है, परन्तु जड़ता या अज्ञानसे जब यह स्थूल हो जाता है तभी इसका पतन होता है। अज्ञान ही अधःपतनका कारण है और ज्ञान ही उत्थानका कारण है।

जीवात्मा एक बार शेष सीमातक उठनेपर फिर नहीं गिरता। उसके ज्ञानमें सब कुछ परमेश्वर ही हो जाता है, वास्तवमें तत्त्वसे है तो एक ही। परमाणु, भाप, बादल, बूँद, ओले सब जल ही तो हैं।

इस न्यायसे सभी वस्तुएँ एक ही परमात्मतत्त्व हैं, इसलिये भगवान् चाहे जैसे, चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपसे प्रकट हो जाते हैं। इस बातका ज्ञान होनेपर साधकको सब जगह ईश्वर ही दीखते हैं। जलका तत्त्व समझ लेनेपर सब जगह जल ही दीखता है, वही परमाणुमें और वही ओलोंमें। अत्यन्त सूक्ष्ममें भी वही और अत्यन्त स्थूलमें भी वही। इसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूलमें वही एक परमात्मा है। '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**।' यही निराकार-साकारकी एकरूपता है।

अज्ञानसे अहंकार बढ़ता है, जितना अहंकार अधिक होता है उतना ही वह सांसारिक वस्तुओंको अधिक ग्रहण करता है। जितना सांसारिक बोझ अधिक होगा उतना ही वह नीचे जायगा। तीन गुण हैं, इनमें तमोगुण सबसे भारी है इसीसे तमोगुणी पुरुष नीचे जाता है। रजोगुण समान है इससे रजोगुणी बीचमें मनुष्यादिमें रह जाता है। सत्त्वगुण हलका है, इससे सतोगुणी परमात्माकी ओर ऊपरको उठता है—

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'
'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'
'अधो गच्छन्ति तामसाः'

हलकी चीज ऊपर तैरती है, भारी डूब जाती है। आसुरी सम्पदा तमोगुणका स्वरूप है इसलिये वह नीचे ले जाती है। सतोगुण हलका होनेसे ऊपरको उठाता है। दैवी सम्पदा ही सत्त्वगुण है,

यही ईश्वरकी सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-ही-त्यों साधक ऊपर उठता है, यानी परमात्माके समीप पहुँचता है।

इस तरहसे स्थूल और सूक्ष्ममें उस एक ही परमात्माको व्यापक समझना चाहिये।

परमात्मा व्यापकरूपसे सबको देखते और जानते हैं।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३।१३)

वह ज्ञेय कैसा है? सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर तथा मुखवाला एवं सब ओरसे कानवाला है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो, ऐसा कोई शब्द नहीं जिसे वह न सुनता हो, ऐसा कोई दृश्य नहीं जिसे वह न देखता हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह न ग्रहण करता हो और ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ वह न पहुँचता हो।

हम यहाँ प्रसाद लगाते हैं तो वह तुरन्त खाता है। हम यहाँ स्तुति करते हैं तो वह सुनता है। हमारी प्रत्येक क्रियाको वह देखता है परन्तु हम उसे नहीं देख सकते। इसपर यह प्रश्न होता है कि एक ही पुरुषकी सब जगह सब इन्द्रियाँ कैसे रहती हैं? आँख है, वहाँ नाक कैसे हो सकती है? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि यह बात तो ठीक है, परन्तु परमात्मा इससे विलक्षण है। वह कुछ अलौकिक शक्ति है, उसमें सब कुछ सम्भव है। मान लीजिये, एक सोनेका ढेला है, उसमें कड़े, बाजूबन्द, कण्ठी आदि सभी गहने सभी जगह हैं। जहाँ इच्छा हो

वहाँसे सब चीजें मिल सकती हैं, इसी प्रकार वह एक ऐसी वस्तु है जिसमें सब जगह सभी वस्तुएँ व्यापक हैं, सभी उसमेंसे निकल सकती हैं, वह सब जगहकी और सबकी बातोंको एक साथ सुन सकता है और सबको एक साथ देख सकता है।

स्वप्नमें आँख, कान, नाक वगैरह न होनेपर भी अन्तःकरण स्वयं सब क्रियाओंको आप ही करता और आप ही देखता-सुनता है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सभी कुछ बन जाता है, इसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति भी बड़ी विलक्षण है, वह सब जगह सब कुछ करनेमें सर्वथा समर्थ है। यही तो उसका ईश्वरत्व और विराट् स्वरूप है।

साकाररूप उस परमेश्वरका समस्त ब्रह्माण्ड शरीर है, जैसे बर्फ जलका शरीर है परन्तु उससे अलग नहीं है। इसी प्रकार क्या संसार भी वस्तुतः ऐसा ही है ? क्या शरीर भी परमात्मा है ?

इसके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि है भी और नहीं भी। इस शरीरकी कोई सेवा करता या आराम पहुँचाता है, तब मैं, उसे अपनी सेवा और अपनेको आराम पहुँचता है, ऐसा मानता हूँ परन्तु वस्तुतः मैं शरीर नहीं हूँ; मैं आत्मा हूँ, पर जबतक मैं इस साढ़े तीन हाथकी देहको 'मैं' मानता हूँ, तबतक वह मैं हूँ। इस स्थितिमें चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, सबको उसकी सेवा करनी चाहिये, उसकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है, संसारको सुख पहुँचाना ही परमात्माको सुख पहुँचाना है और जब मैं यह शरीर नहीं हूँ, तब यह ब्रह्माण्डरूपी शरीर भी ईश्वर नहीं है। यह अपना शरीर

है तभीतक वह उसका शरीर है । हम सब उसके अंश हैं तो वह अंशी है । वास्तवमें अन्तमें हम आत्मा ही ठहरते हैं, शरीर नहीं । परन्तु जबतक ऐसा नहीं है तबतक इसी चालसे चलना चाहिये । यथार्थ ज्ञान होनेपर तो एक शुद्ध ब्रह्म ही रह जायगा ।

इस न्यायसे निराकार-साकार सब एक ही वस्तु है । जगत् परमेश्वरमें अध्यारोपित है । महात्मा लोग ऐसा ही कहते हैं, जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीतिमात्र है, वास्तवमें है नहीं । स्वप्नका संसार अपनेमें प्रतीत होता है, मृगतृष्णाका जल या आकाशमें तिरमिरे प्रतीत होते हैं इसी प्रकार परमात्मामें संसारकी प्रतीति होती है इस बातको महात्मा पुरुष ही जानते हैं । जागनेपर जागनेवालेको ही स्वप्नके संसारकी असारताका यथार्थ ज्ञान होता है । जबतक यह बात जाननेमें नहीं आती तबतक उपाय करना चाहिये । उपाय यह है—

निराकार और साकार किसी भी रूपका ध्यान करनेपर जो एक ही परम वस्तु उपलब्ध होती है, उस परमेश्वरकी सब प्रकारसे शरण होकर इन्द्रिय और शरीरसे उसकी सेवा करना, मनसे उसे स्मरण करना, श्वाससे उसका नामोच्चारण करना, कानोंसे उसका प्रभाव सुनना और शरीरसे उसकी इच्छानुसार चलना यही उसकी सेवा है, यही असली भक्ति है और इसीसे आत्माका शीघ्र कल्याण हो सकता है !

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



त्यागसे भगवत्-प्राप्ति



त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥



गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागके द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है । परमात्माको प्राप्त करनेके लिये 'त्याग' ही मुख्य साधन है । अतएव सात श्रेणियोंमें विभक्त करके त्यागके लक्षण संक्षेपमें लिखे जाते हैं ।

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग ।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना । यह पहली श्रेणीका त्याग है ।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना*। यह दूसरी श्रेणीका त्याग है।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री-पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्-प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना। यह तीसरी श्रेणीका त्याग है।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं उन सबका त्याग करना †। यह चौथी श्रेणीका त्याग है।

---

* यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय जो कि स्वरूपसे तो सकाम हो परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्म उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रहके लिये उसका कर लेना सकाम कर्म नहीं है।

† यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता

(५) संपूर्ण कर्तव्य कर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खानपान इत्यादि जितने कर्तव्य कर्म हैं उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामना-का त्याग करना।

(क) ईश्वर-भक्तिमें आलस्यका त्याग

अपने जीवनका परम कर्तव्य मानकर परम दयालु, सबके सुहृद्, परम-प्रेमी, अन्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और प्रेमकी रहस्यमयी कथाका श्रवण, मनन और पठन-पाठन करना तथा आलस्यरहित होकर उनके परम पुनीत नामका उत्साहपूर्वक ध्यानसहित निरन्तर जप करना।

(ख) ईश्वर-भक्तिमें कामनाका त्याग

इसलोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको क्षणभंगुर, नाशवान् और भगवान्की भक्तिमें बाधक समझकर किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये न तो भगवान्से प्रार्थना करना और न

हो या लोक-शिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसर-पर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थ स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोक-मर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

मनमें इच्छा हीं रखना । तथा किसी प्रकारका संकट आ जानेपर भी उसके निवारणके लिये भगवान्से प्रार्थना न करना अर्थात् हृदयमें ऐसा भाव रखना कि प्राण भले ही चले जायँ परन्तु इस मिथ्या जीवनके लिये विशुद्ध भक्तिमें कलङ्क लगाना उचित नहीं है । जैसे भक्त प्रह्लादने पिताद्वारा बहुत सताये जानेपर भी अपने कष्टनिवारणके लिये भगवान्से प्रार्थना नहीं की ।

अपना अनिष्ट करनेवालोंको भी, 'भगवान् तुम्हारा बुरा करें' इत्यादि किसी प्रकारके कठोर शब्दोंसे सरांप न देना और उनका अनिष्ट होनेकी मनमें इच्छा भी न रखना ।

भगवान्की भक्तिके अभिमानमें आकर किसीको वरदानादि भी न देना, जैसे कि 'भगवान् तुम्हें आरोग्य करें' 'भगवान् तुम्हारा दुःख दूर करें' 'भगवान् तुम्हारी आयु बढ़ावें' इत्यादि ।

पत्र-व्यवहारमें भी सकाम शब्दोंका न लिखना अर्थात् जैसे 'अठे उठे श्रीठाकुरजी सहाय छै' 'ठाकुरजी बिक्री चलासी' 'ठाकुरजी वर्षा करसी' 'ठाकुरजी आराम करसी' इत्यादि सांसारिक वस्तुओंके लिये ठाकुरजीसे प्रार्थना करनेके रूपमें सकाम शब्द मारवाड़ी समाजमें प्रायः लिखे जाते हैं वैसे न लिखकर 'श्रीपरमात्मादेव आनन्द-रूपसे सर्वत्र विराजमान हैं' 'श्रीपरमेश्वरका भजन सार है' इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना तथा इसके सिवाय अन्य किसी प्रकारसे भी लिखने, बोलने आदिमें सकाम शब्दोंका प्रयोग न करना ।

(ग) देवताओंके पूजनमें आलस्य और कामनाका त्याग ।

शास्त्र-मर्यादासे अथवा लोक-मर्यादासे पूजनेके योग्य देवताओं-

को पूजनेका नियत समय आनेपर उनका पूजन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है एवं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परम कर्तव्य है ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक विधिके सहित उनका पूजन करना एवं उनसे किसी प्रकारकी भी कामना न करना।

उनके पूजनके उद्देश्यसे रोकड़ बहीखाते आदिमें भी सकाम शब्द न लिखना अर्थात् जैसे मारवाड़ी समाजमें नये बसनेके दिन अथवा दीपमालिकाके दिन श्रीलक्ष्मीजीका पूजन करके 'श्रीलक्ष्मीजी लाभ मोकलो देसी' 'भण्डार भरपूर राखसी' 'ऋद्धि सिद्धि करसी' 'श्रीकालीजीके आसरे' 'श्रीगङ्गाजीके आसरे' इत्यादि बहुत-से सकाम शब्द लिखे जाते हैं वैसे न लिखकर 'श्रीलक्ष्मीनारायणजी सब जगह आनन्दरूपसे विराजमान हैं' तथा 'बहुत आनन्द और उत्साहके सहित श्रीलक्ष्मीजीका पूजन किया' इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना और नित्य रोकड़ नकल आदिके आरम्भ करनेमें भी उपरोक्त रीतिसे ही लिखना।

(घ) माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवामें आलस्य और कामनाका त्याग।

माता, पिता, आचार्य एवं और भी जो पूजनीय पुरुष वर्ण, आश्रम, अवस्था और गुणोंमें किसी प्रकार भी अपनेसे बड़े हों उन सबकी सब प्रकारसे नित्य सेवा करना और उनको नित्य प्रणाम करना मनुष्यका परम कर्तव्य है, इस भावको हृदयमें रखते हुए आलस्यका सर्वथा त्याग करके, निष्काम भावसे उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार उनकी सेवा करनेमें तत्पर रहना।

(ङ) यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

पञ्च महायज्ञादि* नित्यकर्म एवं अन्यान्य नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञादिका करना तथा अन्न, वस्त्र, विद्या, औषध और धनादि पदार्थोंके दानद्वारा संपूर्ण जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी और शरीरसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना तथा अपने धर्मका पालन करनेके लिये हर प्रकारसे कष्ट सहन करना, इत्यादि शास्त्रविहित कर्मोंमें इसलोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करके एवं अपना परम कर्तव्य मानकर श्रद्धासहित उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ ही उनका आचरण करना।

(च) आजीविकाद्वारा गृहस्थ-निर्वाहके उपयुक्त कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

आजीविकाके कर्म जैसे वैश्यके लिये कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्यादि कहे हैं वैसे ही जो अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार शास्त्रमें विधान किये गये हों उन सबके पालनद्वारा संसारका हित करते हुए ही गृहस्थका निर्वाह करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है। इसलिये अपना कर्तव्य मानकर लाभ-

---

* पञ्च महायज्ञ यह हैं। देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि) ऋषियज्ञ (वेदपाठ, सन्ध्या, गायत्रीजपादि) पितृयज्ञ (तर्पण श्राद्धादि) मनुष्ययज्ञ (अतिथि-सेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्व)।

हानिको समान समझते हुए सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग करके उत्साहपूर्वक उपरोक्त कर्मोंका करना।*

(छ) शरीर-सम्बन्धी कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शरीर-निर्वाहके लिये शास्त्रोक्त रीतिसे भोजन, वस्त्र और औषधादिके सेवनरूप जो शरीरसम्बन्धी कर्म हैं उनमें सब प्रकारके भोगविलासोंकी कामनाका त्याग करके एवं सुख, दुःख, लाभ, हानि और जीवन, मरण आदिको समान समझकर केवल भगवत्-प्राप्तिके लिये ही योग्यताके अनुसार उनका आचरण करना।

पूर्वोक्त चार श्रेणियोंके त्यागसहित इस पाँचवीं श्रेणीके त्यागानुसार संपूर्ण दोषोंका और सब प्रकारकी कामनाओंका नाश होकर केवल एक भगवत्-प्राप्तिकी ही तीव्र इच्छाका होना ज्ञानकी पहिली भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

---

* उपरोक्त भावसे करनेवाले पुरुषके कर्म लोभसे रहित होनेके कारण उनमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता क्योंकि आजीविकाके कर्मोंमें लोभ ही विशेषरूपसे पाप करानेका हेतु है इसलिये मनुष्यको चाहिये कि 'गीताप्रेस गोरखपुर' से प्रकाशित साधारण भाषाटीका गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ की टिप्पणीमें जैसे वैश्यके प्रति वाणिज्यके दोषोंका त्याग करनेके लिये विस्तारपूर्वक लिखा है उसी प्रकार अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार संपूर्ण कर्मोंमें सब प्रकारके दोषोंका त्याग करके केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये निष्काम भावसे ही संपूर्ण कर्मोंका आचरण करें।

(६) संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें, ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग ।

धन, भवन और वस्त्रादि संपूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि संपूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषयभोगरूप पदार्थ हैं उन सबको क्षणभंगुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली संपूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना । यह छठी श्रेणीका त्याग है* ।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है । इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना

* संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग तो तीसरी और पाँचवीं श्रेणीके त्यागमें कहा गया परन्तु उपर्युक्त त्यागके होनेपर भी उनमें ममता और आसक्ति शेष रह जाती है, जैसे भजन, ध्यान और सत्सङ्गके अभ्याससे भरतमुनिका संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग होनेपर भी हरिणमें और हरिणके पालन-रूप कर्ममें ममता और आसक्ति बनी रही । इसलिये संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिके त्यागको छठी श्रेणीका त्याग कहा है ।

और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषय-भोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता। एवं उनके द्वारा संपूर्ण कर्तव्य-कर्म भगवान्के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका त्याग होकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही विशुद्ध प्रेमका होना ज्ञानकी दूसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

(७) संसार, शरीर और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके संपूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं ऐसा दृढ़-निश्चय होकर शरीरसहित संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र

भी न रहना। यह सातवीं श्रेणीका त्याग है*।

इस सातवीं श्रेणीके त्यागरूप पर-वैराग्यको† प्राप्त हुए पुरुषोंके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ संपूर्ण संसारसे अत्यन्त उपराम हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई सांसारिक फुरना हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते, क्योंकि उनकी एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्यभावसे गाढ़ स्थिति निरन्तर बनी रहती है।

इसलिये उनके अन्तःकरणमें संपूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर अहिंसा१, सत्य२, अस्तेय३, ब्रह्मचर्य४, अपैशुनता५, लज्जा, अमानित्व६,

---

* संपूर्ण संसारके पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका एवं ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी उनमें सूक्ष्म वासना और कर्तृत्व-अभिमान शेष रह जाता है इसलिये सूक्ष्म वासना और अहंभावके त्यागको सातवीं श्रेणीका त्याग कहा है।

† पूर्वोक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है परन्तु इस सातवीं श्रेणीके त्यागी पुरुषका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उसमें आसक्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसके निश्चयमें एक परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं इसलिये इस त्यागको पर-वैराग्य कहा है।

१ मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना।

२ अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना।

३ चोरीका सर्वथा अभाव।

४ आठ प्रकारके मैथुनोंका अभाव।

५ किसीकी भी निन्दा न करना।

६ सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना।

निष्कपटता, शौच १, सन्तोष २, तितिक्षा ३, सत्संग, सेवा, यज्ञ, दान, तप ४, स्वाध्याय ५, शम ६, दम ७, विनय, आर्जव ८, दया ९, श्रद्धा १०, विवेक ११, वैराग्य १२, एकान्तवास, अपरिग्रह १३,

---

१ बाहर और भीतरकी पवित्रता (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी एवं यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको तो बाहरकी शुद्धि कहते हैं और राग, द्वेष तथा कपटादि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ और शुद्ध हो जाना, भीतरकी शुद्धि कहलाती है)।

२ तृष्णाका सर्वथा अभाव।

३ शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका सहन करना।

४ स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना।

५ वेद और सत्शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन।

६ मनका वशमें होना।

७ इन्द्रियोंका वशमें होना।

८ शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता।

९ दुःखियोंमें करुणा।

१० वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वास।

११ सत् और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान।

१२ ब्रह्मलोकतकके संपूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव।

१३ ममत्वबुद्धिसे संग्रहका अभाव।

समाधान १, उपरामता, तेज २, क्षमा ३, धैर्य ४, अद्रोह ५, अभय ६, निरहंकारता, शान्ति ७ और ईश्वरमें अनन्यभक्ति इत्यादि सद्‌गुणोंका आविर्भाव स्वभावसे ही हो जाता है।

इस प्रकार शरीरसहित संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें परिपक्क अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

उपरोक्त गुणोंमेंसे कितने ही तो पहिली और दूसरी भूमिकामें ही प्राप्त हो जाते हैं परन्तु संपूर्ण गुणोंका आविर्भाव तो प्रायः तीसरी भूमिकामें ही होता है। क्योंकि यह सब भगवत्-प्राप्तिके अति समीप पहुँचे हुए पुरुषोंके लक्षण एवं भगवत्-स्वरूपके साक्षात् ज्ञानमें

---

१ अन्तःकरणमें संशय और विक्षेपका अभाव।

२ श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

३ अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना।

४ भारी विपत्ति आनेपर भी अपनी स्थितिसे चलायमान न होना।

५ अपने साथ द्वेष रखनेवालोंमें भी द्वेषका न होना।

६ सर्वथा भयका अभाव।

७ इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तः-करणमें नित्य निरन्तर प्रसन्नताका रहना।

हेतु हैं इसलिये श्रीकृष्ण भगवान्ने प्रायः इन्हीं गुणोंको श्रीगीताजीके १३ वें अध्यायमें (श्लोक ७ से ११ तक) ज्ञानके नामसे तथा १६ वें अध्यायमें (श्लोक १ से ३ तक) दैवी सम्पदाके नामसे कहे हैं।

तथा उक्त गुणोंको शास्त्रकारोंने सामान्य धर्म माना है। इसलिये मनुष्यमात्रका ही इनमें अधिकार है, अतएव उपरोक्त सद्गुणोंका अपने अन्तःकरणमें आविर्भाव करनेके लिये सभीको भगवान्के शरण होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

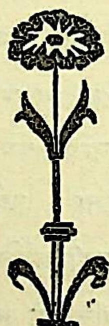
इस लेखमें सात श्रेणियोंके त्यागद्वारा भगवत्-प्राप्तिका होना कहा गया है। उनमें पहिली ५ श्रेणियोंके त्यागतक तो ज्ञानकी प्रथम भूमिकाके लक्षण और छठी श्रेणीके त्यागतक दूसरी भूमिकाके लक्षण तथा सातवीं श्रेणीके त्यागतक तीसरी भूमिकाके लक्षण बताये गये हैं। उक्त तीसरी भूमिकाके परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसका इस क्षणभङ्गुर नाशवान् अनित्य संसारसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्नके संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता वैसे ही अज्ञाननिद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। यद्यपि लोक-दृष्टिमें उस ज्ञानी पुरुषके शरीरद्वारा प्रारब्धसे संपूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते हैं एवं उन कर्मोंद्वारा संसारमें बहुत ही लाभ पहुँचता है। क्योंकि कामना, आसक्ति और कर्तृत्व-अभिमानसे रहित

होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र बनते हैं, परन्तु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवको प्राप्त हुआ पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्ति होनेपर उनकी आकाङ्क्षा ही करता है। क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एवं मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है इसलिये उस महात्माको न तो किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियकी निवृत्तिमें हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमें अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता। क्योंकि उसके अन्तःकरणमें संपूर्ण संसार मृगतृष्णाके जलकी भाँति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नहीं भासता। विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करनेके लिये किसीका भी

सामर्थ्य नहीं है । अतएव जितना शीघ्र हो सके अज्ञाननिद्रासे चेतकर उक्त सात श्रेणियोंमें कहे हुए त्यागद्वारा परमात्माको प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये । क्योंकि यह अति दुर्लभ मनुष्यका शरीर बहुत जन्मके अन्तमें परम दयालु भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है । इसलिये नाशवान् क्षणभंगुर संसारके अनित्य भोगोंको भोगनेमें अपने जीवनका अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिये ।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्



शरणागति



तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)



मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य आत्यन्तिक आनन्द-की प्राप्ति है, आत्यन्तिक आनन्द परमात्मामें है अतएव परमात्माकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये शास्त्रकारों और महात्माओंने अधिकारीके अनुसार अनेक उपाय और साधन बतलाये हैं परन्तु विचार करने-पर उन समस्त साधनोंमें परमात्माकी शरणागतिके समान सरल, सुगम, सुखसाध्य साधन अन्य कोई-सा भी नहीं प्रतीत होता। इसीलिये प्रायः सभी शास्त्रोंमें इसकी प्रशंसा की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीता-में तो उपदेशका आरम्भ और पर्यवसान दोनों ही शरणागतिमें होते हैं। पहले अर्जुन **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत हूँ, मुझे यथार्थ उपदेश दीजिये ऐसा कहता है तब भगवान् उपदेशका आरम्भ करते हैं और अन्तमें उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८।६६)

संपूर्ण धर्मोंको अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल मुझ एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। मैं तुझे संपूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर।

इससे पहले भी भगवान्‌ने शरणागतिको जितना महत्व दिया है उतना अन्य किसी भी साधनको नहीं दिया। जाति या आचरणसे कोई कैसा भी नीच या पापी क्यों न हो, भगवान्‌की शरणमात्रसे ही वह अनायास परमगतिको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९।३२)

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्रादि और पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥
(कठ० १।२।१६-१७)

यह अक्षर ही ब्रह्मरूप है, यह अक्षर ही पररूप है, इस अक्षरको ही जानकर जो पुरुष जैसी इच्छा करता है उसको वह ही प्राप्त होती है। इस अक्षरका आश्रय (शरण) श्रेष्ठ है। यह आश्रय सर्वोत्कृष्ट है, इस आश्रयको जानकर (वह) ब्रह्मलोकमें पूजित होता है।

महर्षि पतञ्जलि अन्यान्य सब उपायोंसे इसीको सुगम बतलाते हुए कहते हैं—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

(योगदर्शन १। २३)

ईश्वरकी शरणागतिसे समाधिकी प्राप्ति होती है, आगे चलकर पतञ्जलि इसका फल बतलाते हैं—

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।'

(योगदर्शन १। २९)

उस ईश्वरप्रणिधानसे परमात्माकी प्राप्ति और (साधनमें आनेवाले) संपूर्ण विघ्नोंका भी अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भगवान् श्रीरामने घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

यह तो प्रमाणोंका केवल दिग्दर्शनमात्र है। शास्त्रोंमें शरणागतिकी महिमाके असंख्य प्रमाण वर्तमान हैं। परन्तु विचारणीय विषय तो यह है कि शरणागति वास्तवमें किसे कहते हैं। केवल मुखसे कह देना कि 'हे भगवन्! मैं आपके शरण हूँ'

शरणागतिका स्वरूप नहीं है। साधारणतया शरणागतिका अर्थ किया जाता है, मन, वाणी और शरीरको सर्वतोभावसे भगवान्‌के अर्पण कर देना परन्तु यह अर्पण भी केवल **'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'** कह देनेमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकता। यदि इसीमें अर्पणकी सिद्धि होती तो अबतक न मालूम कितने भगवान्‌के शरणागत भक्त हो गये होते, इसलिये अब यह समझना चाहिये कि अर्पण किसे कहते हैं।

शरण, आश्रय, अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अवलम्बन, निर्भरता और आत्मसमर्पण आदि शब्द प्रायः एक ही अर्थके बोधक हैं।

एक परमात्माके सिवा किसीका किसी भी कालमें कुछ भी सहारा न समझकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना और भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही उनकी आज्ञानुसार समस्त कर्तव्य कर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल भगवान्‌के लिये ही आचरण करते रहना, यही 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण' होना है।

इस शरणागतिमें प्रधानतः चार बातें साधकके लिये समझनेकी हैं।

(१) सब कुछ परमात्माका समझकर उसके अर्पण करना।

(२) उसके प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहना।

(३) उसकी आज्ञानुसार उसीके लिये समस्त कर्तव्य कर्म करना।

(४) नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही उसका एकतार स्मरण रखना।

इन चारोंपर कुछ विस्तारसे विचार कीजिये।

सर्वस्व अर्पण

सब कुछ परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ घरद्वार छोड़कर संन्यासी हो जाना या कर्तव्य कर्मोंका त्यागकर कर्महीन हो बैठना नहीं है। सांसारिक वस्तुओंपर हमने भूलसे जो ममता आरोपित कर रक्खी है यानी उनमें जो अपनापन है उसे उठा देना। यही उसकी वस्तु उसके अर्पण कर देना है। वस्तु तो उसीकी हैं, हमसे छिन भी जाती हैं परन्तु हम उन्हें भ्रमसे अपनी मान लेते हैं, इसीसे छिननेके समय हमें रोना भी पड़ता है।

एक धनी सेठका बड़ा कारोबार है, उसपर एक मुनीम काम करता है। सेठने उसको ईमानदार और कर्तव्य-परायण समझकर सम्पत्तिकी रक्षा, व्यापारके सञ्चालन और नियमानुसार व्यवहार करनेका सारा भार सौंप रक्खा है। अब मुनीमका यही काम है कि वह मालिककी किसी भी वस्तुपर अपना किञ्चित् भी अधिकार न समझकर, किसीपर ममता या अहंकार न रखकर मालिककी आज्ञा और उसकी नियत की हुई विधिके अनुसार समस्त

कार्य बड़ी दक्षता, सावधानी और ईमानदारीके साथ करता रहे। करोड़ोंका लेन-देन करे, करोड़ोंकी सम्पत्तिपर मालिककी भाँति अपनी सँभाल रक्खे, मालिकके नामसे हस्ताक्षर करे, परन्तु अपना कुछ भी न समझे। मूल-धन मालिकका, कारोबारमें होनेवाला मुनाफा मालिकका और नुकसानका उत्तरदायित्व भी मालिकका!

यदि वह मुनीम कहीं भूल, प्रमाद या बेईमानीसे मालिकके धनको अपना समझकर अपने काममें लाना चाहे, मालिककी सम्पत्ति या नफेकी रकमपर अधिकार कर ले तो वह चोर, बेईमान या अपराधी समझा जाता है। न्यायालयमें मुकद्दमा जानेपर वह सम्पत्ति उससे छीन ली जाती है, उसे कठोर दण्ड मिलता है और उसके नामपर इतना कलङ्क लग जाता है जिससे वह सबमें अविश्वासी समझा जाकर सदाके लिये दुखी हो जाता है। इसी प्रकार यदि मालिककी कोठीका भार सँभालकर वह काम करनेसे जी चुराता है, मालिकके नियमोंको तोड़ता है तो भी वह अपराधी होता है अतएव मुनीमके लिये यह दोनों ही बातें निषिद्ध हैं।

इसी तरह यह समस्त जगत् उस परमात्माका है, वही यावन्मात्र पदार्थोंका उत्पन्न करनेवाला, वही नियन्त्रणकर्ता, वही आधार और वही स्वामी है, उसीने हमको हमारे कर्मवश जैसी योनि, जो स्थिति मिलनी चाहिये थी उसीमें उत्पन्नकर अपनी कुछ वस्तुओंकी सँभाल और सेवाका भार दे दिया है और हमारे लिये कर्तव्यकी विधि भी बतला दी है। परन्तु हमने भ्रमसे परमात्माके पदार्थोंको अपना मान लिया है इसीलिये हमारी दुर्गति होती है।

यदि हम अपनी इस भूलको मिटाकर यह समझ लें कि जो कुछ है सो परमात्माका है, हम तो उसके सेवकमात्र हैं, उसकी सेवा करना ही हमारा धर्म है, तो वह परमात्मा हमें ईमानदार समझकर हमपर प्रसन्न होता है और हम उसकी कृपा और पुरस्कारके पात्र होते हैं। मायाके बन्धनसे छूटना ही सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो कुछ है सो परमात्माका है, इस बुद्धिके आ जानेपर ममता चली जाती है और जो कुछ है सो परमात्मा ही है, इस बुद्धिसे अहंकार-का नाश हो जाता है—यानी एक परमात्माको ही जगत्का उपादान और निमित्त-कारण समझ लेनेसे उसमें ममता और अहंकार (मैं और मेरा) नष्ट हो जाता है। 'मैं मेरा' ही बन्धन है, भगवान्-का शरणागत भक्त 'मैं मेरा' के बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मासे कहता है कि बस, केवल एक तू ही है और सब तेरा ही है।

यही अर्पण है, इस अर्पणकी सिद्धि हो जानेपर साधक बन्धनमुक्त हो जाता है, उसे किसी प्रकारकी कोई चिन्ता नहीं रहती। जो चिन्ता करता है, अपनेको बँधा हुआ मानता है, बन्धनसे मुक्ति चाहता है वह वास्तवमें परमात्माके तत्त्वको जानकर उनके शरण नहीं हुआ। अपने उद्धारकी चिन्ता तो शरणागतिके साधकके चित्तसे भी चली जाती है। वास्तवमें बात भी यही है। शरण ग्रहण करनेपर भी यदि शरणागतको चिन्ता करनी पड़े तो वह शरण ही कैसी ? जो जिसकी शरण होता है उसकी चिन्ता उस स्वामीको ही रहती है।

जो जाको शरणो लियो, ताकहँ ताकी लाज।
उलटै जल मछली चले, बह्यो जात गजराज॥

जब कबूतरके शरणापन्न हो जानेपर दया और शरणागत-वत्सलताके वशीभूत हो महाराज शिवि अपने शरीरका मांस देकर उसकी रक्षा कर सकते हैं, तब वह परमेश्वर जो अनाथोंका नाथ है, दयाका अनन्त, अथाह सागर है, जगत्के इतिहासमें शरणागत-वत्सलताकी बड़ी-से-बड़ी घटना जिसकी शरणागत-वत्सलताके सामने सागरकी तुलनामें एक जलकणके सदृश भी नहीं है, क्या शरण होनेपर वह हमारी रक्षा और उद्धार न करेगा ? यदि इतनेपर हमारे मनमें अपने उद्धारकी चिन्ता होती है और हम अपनेको शरणागत भी समझते हैं तो यह हमारी नीचता है, हम शरणागतिका रहस्य ही नहीं समझते । वास्तवमें शरणागत भक्तको उद्धार होने-न-होनेसे मतलब ही क्या है ? वह तो अपने आपको मन-बुद्धि-सहित उसके चरणोंमें समर्पितकर सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, उसे उद्धारकी परवाह ही क्यों होने लगी ? शरणागतिके रहस्यको समझनेवाले भक्तके लिये उद्धारकी चिन्ता करना तो दूर रहा, वह इस प्रसंगकी स्मृतिको भी पसन्द नहीं करता । यदि भगवान् स्वयं कभी उसे उद्धारकी बात कहते हैं तो वह अपनी शरणागतिमें त्रुटि समझकर लज्जित और संकुचित होकर अपनेको धिक्कारता है । वह समझता है कि यदि मेरे मनमें कहीं मुक्तिकी इच्छा छिपी हुई न होती तो आज इस अप्रिय प्रसंगके लिये अवसर ही क्यों आता ? मुक्ति तो भगवत्प्रेमका पासँगमात्र है, उस प्रेम-धनको छोड़कर पासँगकी इच्छा करना अत्यन्त लज्जाका विषय है । मुक्तिकी इच्छाको कलङ्क समझकर और अपनी दुर्बलता तथा

नीचाशयताका अनुभवकर भगवान्पर अपना अविश्वास जानकर वह परमात्माके सामने एकान्तमें रोकर पुकार उठता है कि—

'हे प्रभो ! जबतक मेरे हृदयमें मुक्तिकी इच्छा बनी हुई है तबतक मैं आपका दास कहाँ ? मैं तो मुक्तिका ही गुलाम हूँ। आपको छोड़कर अन्यकी आशा करता हूँ, मुक्तिके लिये आपकी भक्ति करता हूँ और इतनेपर भी अपनेको निष्काम प्रेमी शरणागत भक्त समझता हूँ। नाथ ! यह मेरा दम्भाचरण है। स्वामिन् ! दयाकर इस दम्भका नाश कीजिये। मेरे हृदयसे मुक्तिरूपी स्वार्थकी कामनाका भी मूलोच्छेदकर अपने अनन्य प्रेमकी भिक्षा दीजिये। आप-सरीखे अनुपमेय दयामयसे कुछ माँगना अवश्य ही लड़कपन है परन्तु आतुर क्या नहीं करता ?'

इस तरहसे शरणागत भक्त सब कुछ भगवदर्पणकर सब प्रकारसे निश्चिन्त हो रहता है।

भगवान्के प्रत्येक विधानमें सन्तोष।

इस अवस्थामें जो कुछ होता है वह उसीमें सन्तुष्ट रहता है। प्रारब्धवश अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी लाभ-हानि, सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है वह उसको परमात्माका दयापूर्ण विधान समझकर सदा समानभावसे सन्तुष्ट, निर्विकार और शान्त रहता है। गीतामें कहा है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

अपने आप जो कुछ आ प्राप्त हो, उसमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात् ईर्ष्यासे रहित, सिद्धि और असिद्धिमें समत्वभाववाला पुरुष कर्मोंको करके भी नहीं बँधता है ।

वास्तवमें शरणागत भक्त इस तत्त्वको जानता है कि दैवी-योगसे जो कुछ आ प्राप्त होता है वह ईश्वरके न्यायसंगत विधान और उसकी दयापूर्ण आज्ञासे होता है । इससे वह उसे परम सुहृद् प्रभुद्वारा भेजा हुआ इनाम समझकर आनन्दसे मस्तक झुकाकर ग्रहण करता है । जैसे कोई प्रेमी सज्जन अपने किसी प्रेमी न्यायकारी सुहृद् सज्जनके द्वारा किये हुए न्यायको अपनी इच्छासे प्रतिकूल फैसला होनेपर भी उस सज्जनकी न्यायपरायणता, विवेक-बुद्धि, विचारशीलता, सुहृदता, पक्षपातहीनता और प्रेमपर विश्वास रखकर हर्षके साथ स्वीकार कर लेता है, इसी प्रकार शरणागत भक्त भी भगवान्‌के कड़े-से-कड़े विधानको सहर्ष सादर स्वीकार करता है, क्योंकि वह जानता है, मेरा सुहृद् अकारण करुणाशील भगवान् जो कुछ विधान करता है उसमें उसकी दया, प्रेम, न्याय और मेरी मङ्गलकामना भरी रहती है । वह भगवान्‌के किसी भी विधानपर कभी भूलकर भी मन मैला नहीं करता ।

कभी-कभी भगवान् अपने शरणागत भक्तकी कठिन परीक्षा भी लिया करते हैं, वे सब कुछ जानते हैं, तीनों कालकी कुछ भी बात उनसे छिपी हुई नहीं है तथापि भक्तके हृदयसे मान, अहंकार, दुर्बलता आदि मलोंको हरकर उसे निर्मल बनाने और उसे परिपक्व कर उसका परम हित करनेके लिये परीक्षाकी लीला किया करते हैं ।

जो परमात्माके प्रेमी सज्जन शरणागतिके तत्त्वको समझ लेते हैं उन्हें तो कोई भी विषय अपने मनसे प्रतिकूल प्रतीत ही नहीं होता। बाजीगरकी कोई भी चेष्टा उसके झमूरेको अपने मनसे प्रतिकूल या दुःखदायक नहीं दीखती। वह अपने स्वामीकी इच्छाके अधीन होकर बड़े हर्षके साथ उसकी प्रत्येक क्रियाको स्वीकार करता है। इसी प्रकार भक्त भी भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें प्रसन्न रहता है। वह जानता है कि यह सब मेरे नाथकी माया है। वे अद्भुत खिलाड़ी नाना प्रकारके खेल करते हैं। मुझपर तो उनकी अपार दया है जो उन्होंने अपनी लीलामें मुझे साथ रक्खा है—यह मेरा बड़ा सौभाग्य है जो मैं उस लीलामयकी लीलाओंका साधन बन सका हूँ, यों समझकर वह उसकी प्रत्येक लीलामें, उसके प्रत्येक खेलमें उसकी चातुरी और उसके पीछे उसका दिव्य दर्शनकर पद-पदपर प्रसन्न होता है। यह तो सिद्ध शरणागत भक्तकी बात है परन्तु शरणागतिका साधक भी प्रत्येक सुख-दुःखको उसका दया-पूर्ण विधान मानकर प्रसन्न होता है। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि सुखकी प्राप्तिमें तो प्रसन्न होना स्वाभाविक और युक्तियुक्त है परन्तु दुःखमें सुखकी तरह प्रसन्न होना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषकी दृष्टिमें तो सुखकी प्राप्तिसे होनेवाली प्रसन्नता और शान्ति भी विकार ही है। वह तो पुण्य-पाप-वश प्राप्त होनेवाले अनुकूल या प्रतिकूल विषयजन्य सुख-दुःख दोनोंसे ही अतीत है। परन्तु साधनकालमें भी प्रसन्नता तो होनी ही चाहिये। जैसे कठिन रोगके समय बुद्धिमान् रोगी, सद्वैद्य-द्वारा दी हुई अत्यन्त कटु उपयोगी ओषधिका सहर्ष सेवन करता

है और वैद्यका बड़ा उपकार मानता है, इसी प्रकार निःस्वार्थी वैद्यरूप परम सुहृद् परमात्माद्वारा विधान किये हुए कष्टोंको सहर्ष स्वीकार करते हुए उसकी कृपा और सदाशयताके लिये ऋणी होकर सुखी होना चाहिये। भगवान्‌का प्रिय प्रेमी शरणागत भक्त महान् दुःखरूप फलको बड़े आनन्दके साथ भोगता हुआ पद-पदपर उसकी दयाका स्मरणकर परम प्रसन्न होता है। वह समझता है कि दयालु डाक्टर जैसे पके हुए फोड़ेमें चीरा देकर सड़ी हुई मवादको बाहर निकालकर उसे रोगमुक्त कर देता है, इसी प्रकार भगवान् भक्तके हितार्थ कभी-कभी कष्टरूपी चीरा लगाकर उसे नीरोग बना देते हैं। इसमें उनकी दया ही भरी रहती है। यह समझकर भक्त अपने भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहता है। वह दुःखसे उद्विग्न नहीं होता और सुखकी स्पृहा नहीं करता *"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।"*

भगवान्‌की आज्ञानुसार कर्म।

इसीलिये सुखकी इच्छा न रहनेके कारण वह आसक्ति या कामनावश कोई भी निषिद्ध कार्य नहीं कर सकता। उसका प्रत्येक कार्य ईश्वरकी आज्ञानुसार होता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके प्रतिकूल नहीं होती। क्योंकि परमात्माकी इच्छामें ही वह अपनी इच्छा मिला देता है, वह अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रखता। जब कि एक साधारण श्रद्धालु सेवक भी अपने स्वामीके प्रतिकूल कोई कार्य करना नहीं चाहता, कभी भूलसे कोई विपरीत आचरण हो जाता है तो वह लज्जित-संकुचित होकर अपनी भूलपर अत्यन्त पश्चात्ताप करता है, तब भला निष्काम प्रेमभावसे शरणमें

आया हुआ श्रद्धालु ईश्वरभक्त परमात्माके प्रतिकूल किञ्चित्मात्र कार्य भी कैसे कर सकता है? जैसे सतीशिरोमणि पतिव्रता स्त्री अपने परम प्रिय पतिकी भृकुटीकी ओर ताकती हुई सदा-सर्वदा पतिके अनुकूल ही उसकी छायाके समान चलती है, उसी प्रकार ईश्वरप्रेमी शरणागत भक्त भगवदिच्छाका अनुसरण करता है, सब कुछ उसीका समझकर उसीके लिये कार्य करता है।

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि जब ईश्वर सबके प्रत्यक्ष नहीं है तब ईश्वरकी आज्ञा या इच्छाका पता कैसे लगे? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो शास्त्रोंकी आज्ञा ही एक प्रकारसे ईश्वरकी आज्ञा है क्योंकि त्रिकालज्ञ भक्त ऋषियोंने भगवान्का अभिप्राय समझकर ही प्रायः शास्त्रोंका निर्माण किया है। दूसरे श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे ग्रन्थोंमें भगवदाज्ञा प्रत्यक्ष ही है। इसके सिवा भगवान् सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी होनेसे सबके हृदयमें सदा प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। मनुष्य यदि स्वार्थ छोड़कर सरल जिज्ञासु-भावसे हृदयस्थित ईश्वरसे पूछे तो उसे साधारणतया यथार्थ उत्तर मिल ही जाता है। झूठ बोलने, चोरी करने या हिंसादि करनेके लिये किसीका भी हृदय सच्चे भावसे आज्ञा नहीं देता। यही भगवान्की इच्छाका सङ्केत है।

अन्तःकरणपर अज्ञानका विशेष आवरण होनेके कारण जिस प्रश्नके उत्तरमें शङ्कायुक्त जवाब मिले, जिसके निर्णय करनेमें हमारी बुद्धि समर्थ न हो, उस विषयमें स्वार्थरहित सदाचारी धर्मके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे पूछकर निर्णय कर लेना चाहिये। जिस विषयमें अपने मनमें शङ्का न हो, उस विषयमें भी उत्तम पुरुषोंसे परामर्श कर लेना तो लाभदायक ही है। क्योंकि जबतक मनुष्य

परमात्माको तत्त्वसे नहीं जान लेता तबतक भ्रमसे कहीं-कहीं असत्यका सत्यके रूपमें प्रतीत हो जाना सम्भव है, इसलिये निर्णीत विषयोंको भी सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे मार्जन कर लेना उचित है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर परमात्माका सङ्केत यथार्थ समझमें आने लगता है। फिर साधक जो कुछ करता है सो सब प्रायः ईश्वरके अनुकूल ही करता है।

यह देखा जाता है कि मालिककी इच्छानुसार वर्तनेवाला स्वामिभक्त सेवक जो सदा मालिकके इशारेके अनुसार काम करता है, वह मालिकके भावको तनिकसे इशारेमात्रसे ही समझ लेता है। जब साधारण मनुष्योंमें ऐसा होता है तब एक ईश्वरका शरणागत भक्त श्रद्धा, विश्वास और प्रेमके बलसे ईश्वरके तात्पर्यको समझने लगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

ईश्वरकी इच्छा समझनेके लिये एक बात और है। यह समझ लेना चाहिये कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, दयासागर, सबके आत्मा और सबके हितमें रत है। अतएव किसी भी जीवका किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमें अहित या अनिष्ट करनेमें उसकी सम्मति नहीं हो सकती, इसलिये जिस कार्यसे यथार्थरूपमें दूसरोंका हित होता हो, वही ईश्वरकी इच्छाके अनुकूल कार्य है और जिससे जीवोंका अनिष्ट होता हो, वह उसकी इच्छाके प्रतिकूल कार्य है।

कुछ लोग भ्रमवश शास्त्र या धर्मकी आड़ लेकर पराये अहित, अनिष्ट या हिंसा आदिको धर्म मान लेते हैं परन्तु ऐसा मानना अनुचित है। हिंसा और अहित कभी धर्म या ईश्वरको अभिप्रेत

नहीं हो सकता । अवश्य ही किसीके हितके लिये माता-पिता या गुरुद्वारा स्नेहभावसे अपने बालक या शिष्यको ताड़ना देनेके समान दण्ड आदि देना हिंसामें शामिल नहीं है ।

अतएव भक्त प्रत्येक कार्य भगवदिच्छाके अनुकूल ही करता है जिससे वह कभी पाप या निषिद्ध कर्म तो कर ही नहीं सकता, उसका प्रत्येक कार्य स्वाभाविक ही सरल, सात्त्विक और लोक-हितकारी होता है क्योंकि उसका संसारमें न कोई स्वार्थ है, न किसी वस्तुमें आसक्ति है और न किसी कालमें किसीसे उसे भय है ।

शरणागत भक्तकी तो बात ही क्या है, भय और पाप तो उसके भी नहीं रहते जो ईश्वरका यथार्थरूपसे अस्तित्व (होनापन) ही मान लेता है । राजा या राजकर्मचारी निर्जन स्थान और अन्धकारमयी रात्रिमें सब जगह मौजूद नहीं रहते परन्तु राज्यकी सत्ताके कारण ही लोग प्रायः नियम-विरुद्ध कार्य नहीं करते । राजकर्मचारी जहाँ रहता है वहाँ तो कानून तोड़ना बड़ा ही कठिन रहता है । जब राजसत्ताका यह प्रताप होता है तब सर्वशक्तिमान् परमात्माको जो सब जगह देखता है, उससे पाप कैसे बन सकते हैं ? ईश्वर सर्वव्यापी होनेके कारण सब जगह उनका रहना सिद्ध ही है । फिर भय भी किस बातका ? क्योंकि जब एक राजकर्मचारी साथ होनेपर भी कहीं चोरोंका भय नहीं रहता तब राजराजेश्वर भगवान् जिसके साथ हों उसके लिये भयकी सम्भावना ही कहाँ है ? जो अपनेको भक्त कहकर परिचय देते हुए भी पापोंमें फँसे रहते या बात-बातमें मृत्यु आदिका भय करते हैं वे यथार्थमें ईश्वरका अस्तित्व ही नहीं मानते । ईश्वरको माननेवाले तो नित्य निष्पाप और निर्भय रहते हैं !

भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन ।

शरणागत साधकको यदि कोई भय रहता है तो वह इसी बातका रहता है कि कहीं उसके चित्तसे प्रियतम परमात्माकी विस्मृति न हो जाय । वास्तवमें वह कभी परमात्माको भूल भी नहीं सकता । क्योंकि परमात्माके चिन्तनका वियोग उससे क्षणमात्रके लिये भी सहा नहीं जाता "*तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम-व्याकुलता*" सम्पूर्ण कर्म परमात्माके अर्पण करके प्रतिपल उसे स्मरण रखना और क्षणभरकी विस्मृतिसे मणिहीन सर्प या जलसे निकाली हुई मछलीकी भाँति परम व्याकुल होकर तड़पने लगना उसका स्वभाव बन जाता है । उसकी दृष्टिमें एकमात्र परमात्मा ही उसका परम जीवन, परम धन, परम आश्रय, परम गति और परम लक्ष्य रह जाता है, प्रतिपल उसके नाम-गुणोंका चिन्तन करना, उसके प्रेममें ही तन्मय हो रहना, बाह्य ज्ञान भूलकर उन्मत्त हो जाना, परम उल्लाससे प्रेममें झूमना, यही उसकी जीवनचर्या बन जाती है ।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

(श्रीमद्भागवत)

वे भक्तगण कभी उन अच्युतका चिन्तन करते हुए रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी आनन्दित होते हैं, कभी अलौकिक कथा कहने लगते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी उन अजन्मा प्रभु-की लीलाओंका अनुकरण करते हैं और कभी परमानन्दको पाकर शान्त और चुप हो रहते हैं ।

इस प्रकार परमात्माके शरणका तत्त्व जानकर वे भक्त भगवान्‌की तद्रूपताको प्राप्त हो जाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(गीता ५ । १७)

तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे परमेश्वरपरायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्ति अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं । ऐसे ही पुरुषोंके लिये भगवान्‌ने कहा है, मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है *"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।"* उससे मैं अदृश्य नहीं होता, वह मुझसे अदृश्य नहीं होता । *"तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।"*

ऐसे पुरुषके द्वारा शरीरसे जो कुछ क्रिया होती है सो क्रिया नहीं समझी जाती । आनन्दमें मग्न हुआ वह भगवान्‌का शरणागत भक्त लीलामय भगवान्‌की आनन्दमयी लीलाका ही अनुकरण करता है, अतएव उसके कर्म भी लीलामात्रसे ही हैं । भगवान् कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(गीता ६ । ३१)

जो पुरुष एकीभावसे स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब

प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।

इसलिये वह सबके साथ अपने आत्माके सदृश ही बर्तता है, उससे कभी किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता। ऐसे अभिन्नदर्शी परमात्मपरायण तद्रूप भक्तोंमें कोई तो स्वामी शुकदेवजीकी तरह लोगोंके उद्धारके लिये उदासीनकी भाँति विचरते हैं, कोई अर्जुनकी भाँति भगवदाज्ञानुसार आचरण करते हुए कर्तव्य कर्मोंके पालनमें लगे रहते हैं, कोई प्रातःस्मरणीया भक्तिमती गोपियोंकी तरह अद्भुत प्रेमलीलामें मत्त रहते हैं और कोई जड़भरतकी भाँति जड़ और उन्मत्तवत् चेष्टा करते रहते हैं।

ऐसे शरणागत भक्त स्वयं तो उद्धाररूप हैं ही और जगत्का उद्धार करनेवाले हैं, ऐसे महापुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे ही मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। वे जहाँ जाते हैं वहींका वातावरण शुद्ध हो जाता है, पृथ्वी पवित्र होकर तीर्थ बन जाती है, ऐसे ही पुरुषोंका संसारमें जन्म लेना सार्थक और धन्य है, ऐसे ही महात्माओंके लिये यह कहा गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

अनन्य प्रेम ही भक्ति है





निर्वचनीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिये भगवद्भक्तिके सदृश किसी भी युगमें अन्य कोई भी सुगम उपाय नहीं है। कलियुगमें तो है ही नहीं। परन्तु यह बात सबसे पहले समझनेकी है कि भक्ति किसे कहते हैं? भक्ति कहनेमें जितनी सहज है, करनेमें उतनी ही कठिन है। केवल बाह्याडम्बरका नाम भक्ति नहीं है। भक्ति दिखानेकी चीज नहीं, वह तो हृदयका परम गुप्त धन है। भक्तिका स्वरूप जितना गुप्त रहता है उतना ही वह अधिक मूल्यवान् समझा जाता है। भक्ति-तत्त्वका समझना बड़ा कठिन है। अवश्य ही उन भाग्यवानोंको इसके समझनेमें बहुत आयास या श्रम नहीं करना पड़ता, जो उस दयामय परमेश्वरके शरण हो जाते हैं। अनन्य शरणागत भक्तको भक्तिका तत्त्व परमेश्वर

स्वयं समझा देते हैं । एक बार भी जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌की शरण हो जाता है, भगवान् उसे अभय कर देते हैं, यह उनका व्रत है ।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

भगवान्‌की शरणागति एक बड़े ही महत्वका साधन है परन्तु उसमें अनन्यता होनी चाहिये । पूर्ण अनन्यता होनेपर भगवान्‌की ओरसे तुरन्त ही इच्छित उत्तर मिलता है । विभीषण अत्यन्त आतुर होकर एकमात्र श्रीरामके आश्रयमें ही अपनी रक्षा समझकर श्रीराम-की शरण आता है । भगवान् राम उसे उसी क्षण अपना लेते हैं । कौरवोंकी राजसभामें सब तरफसे निराश होकर देवी द्रौपदी ज्यों ही अशरण-शरण श्रीकृष्णको स्मरण करती है त्यों ही चीर अनन्त हो जाता है । अनन्य-शरणके यही उदाहरण हैं । यह शरणागति सांसारिक कष्ट-निवृत्तिके लिये थी । इसी भावसे भक्तको भगवान्‌के लिये ही भगवान्‌के शरणागत होना चाहिये । फिर तत्त्वकी उपलब्धि होनेमें विलम्ब नहीं होगा ।

यद्यपि इस प्रकार भक्तिका परम तत्त्व भगवान्‌की शरण होनेसे ही जाना जा सकता है तथापि शास्त्र और सन्त महात्माओंकी उक्तियोंके आधारपर अपना अधिकार न समझते हुए भी अपने चित्तकी प्रसन्नताके लिये मैं जो कुछ लिख रहा हूँ इसके लिये भक्तजन मुझे क्षमा करें ।

परमात्मामें परम अनन्य विशुद्ध प्रेमका होना ही भक्ति कहलाता है । श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक जगह इसका विवेचन है, जैसे

'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।' (१३।१०)
'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।' (१४।२६)
आदि। इसी प्रकारका भाव नारद और शाण्डिल्य-सूत्रोंमें पाया जाता है। अनन्य प्रेमका साधारण स्वरूप यह है। एक भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें किसी समय भी आसक्ति न हो, प्रेमकी मग्नतामें भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका ज्ञान ही न रहे। जहाँ-जहाँ मन जाय वहीं भगवान् दृष्टिगोचर हों। यों होते-होते अभ्यास बढ़ जानेपर अपने आपकी विस्मृति होकर केवल एक भगवान् ही रह जायँ। यही विशुद्ध अनन्य प्रेम है। परमेश्वरमें प्रेम करनेका हेतु केवल परमेश्वर या उनका प्रेम ही हो—प्रेमके लिये ही प्रेम किया जाय, अन्य कोई हेतु न रहे। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और इस लोक तथा परलोकके किसी भी पदार्थकी इच्छाकी गन्ध भी साधकके मनमें न रहे, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी उनका मन कभी न ललचावे। स्वयं भगवान् प्रसन्न होकर भोग्य-पदार्थ प्रदान करनेके लिये आग्रह करें तब भी न ले। इस बातके लिये यदि भगवान् रूठ जायँ तो भी परवा न करे। अपने स्वार्थकी बातें सुनते ही उसे अतिशय वैराग्य और उपरामता हो। भगवान्‌की ओरसे विषयोंका प्रलोभन मिलनेपर मनमें पश्चात्ताप होकर यह भाव उदय हो कि, 'अवश्य ही मेरे प्रेममें कोई दोष है, मेरे मनमें सच्चा विशुद्ध भाव होता और इन स्वार्थकी बातोंको सुनकर यथार्थमें मुझे क्लेश होता तो भगवान् इनके लिये मुझे कभी न ललचाते।' विनय, अनुरोध और भय दिखलानेपर भी परमात्माके प्रेमके सिवा किसी भी हालतमें दूसरी वस्तु स्वीकार न करे, अपने प्रेम-हठपर अटल-अचल रहे। वह यही समझता रहे कि

भगवान् जबतक मुझे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर ललचा रहे हैं और मेरी परीक्षा ले रहे हैं, तबतक मुझमें अवश्य ही विषयासक्ति है। सच्चा प्रेम होता तो एक अपने प्रेमास्पदको छोड़कर दूसरी बात भी मैं न सुन सकता। विषयोंको देख, सुन और सहन कर रहा हूँ इससे यह सिद्ध है कि मैं सच्चे प्रेमका अधिकारी नहीं हूँ। तभी तो भगवान् मुझे लोभ दिखा रहे हैं। उत्तम तो यह था कि मैं विषयोंकी चर्चा सुनते ही मूर्छित होकर गिर पड़ता। ऐसी अवस्था नहीं होती, इसलिये निःसन्देह मेरे हृदयमें कहीं-न-कहीं विषयवासना छिपी हुई है। यह है विशुद्ध प्रेमके ऊँचे साधनका स्वरूप।

ऐसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द होता है उसकी महिमा अकथनीय है। ऐसे प्रेमका वास्तविक महत्व कोई परमात्माका अनन्य-प्रेमी ही जानता है। प्रेमकी साधारणतः तीन संज्ञाएँ हैं। गौण, मुख्य और अनन्य। जैसे नन्हें बछड़ेको छोड़कर गौ वनमें चरने जाती है, वहाँ घास चरती है, उस गौका प्रेम घासमें गौण है, बछड़ेमें मुख्य है और अपने जीवनमें अनन्य है, बछड़ेके लिये घासका एवं जीवनके लिये वह बछड़ेका भी त्याग कर सकती है। इसी प्रकार उत्तम साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी अनन्य-भावसे परमात्माका चिन्तन किया करते हैं। साधारण भगवत्-प्रेमी साधक अपना मन परमात्मामें लगानेकी कोशिश करते हैं, परन्तु अभ्यास और आसक्तिवश भजन-ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोंमें चला ही जाता है। जिनका भगवान्में मुख्य प्रेम है, वे हर समय भगवान्को स्मरण रखते हुए समस्त कार्य करते हैं और जिनका भगवान्में अनन्य-प्रेम हो

जाता है उनको तो समस्त चराचर विश्व एक वासुदेवमय ही प्रतीत होने लगता है। ऐसे महात्मा बड़े दुर्लभ हैं। (गीता ७।१९)

इस प्रकारके अनन्य-प्रेमी भक्तोंमें कई तो प्रेममें इतने गहरे डूब जाते हैं कि वे लोकदृष्टिमें पागल-से दीख पड़ते हैं। किसी किसीकी बालकवत् चेष्टा दिखायी देती है। उनके सांसारिक कार्य छूट जाते हैं। कई ऐसी प्रकृतिके भी प्रेमी पुरुष होते हैं जो अनन्य प्रेममें निमग्न रहनेपर भी महान् भागवत श्रीभरतजीकी भाँति या भक्तराज श्रीहनुमान्‌जीकी भाँति सदा ही 'रामकाज' करनेको तैयार रहते हैं। ऐसे भक्तोंके सभी कार्य लोकहितार्थ होते हैं। ये महात्मा एक क्षणके लिये भी परमात्माको नहीं भुलाते, न भगवान् ही उन्हें कभी भुला सकते हैं। भगवान्‌ने कहा ही है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)



गीतामें भक्ति





मद्भगवद्गीता एक अद्वितीय आध्यात्मिक ग्रन्थ है, यह कर्म, उपासना और ज्ञानके तत्त्वोंका भण्डार है। इस बातको कोई नहीं कह सकता कि गीतामें प्रधानता-से केवल अमुक विषयका ही वर्णन है। यद्यपि यह छोटा-सा ग्रन्थ है और इसमें सब विषयोंका सूत्ररूपसे वर्णन है परन्तु किसी भी विषयका वर्णन स्वल्प होनेपर भी अपूर्ण नहीं है, इसीलिये कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

इस कथनसे दूसरे शास्त्रोंका निषेध नहीं है, यह तो गीताका सच्चा महत्व बतलानेके लिये है, वास्तवमें गीतोक्त ज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। गीतामें अपने-अपने स्थानपर कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंका विशद और पूर्ण वर्णन होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कौन-सा विषय प्रधान और कौन-सा गौण है। सुतराम् जिनको जो विषय प्रिय है—जो सिद्धान्त मान्य है, वही गीतामें भासने लगता है।

पारा और संखिया अमृतका-सा काम दे सकता है यदि वह चतुर वैद्यके द्वारा शोधकर शुद्ध कर लिया जाय। जिस पारे या संखियेके प्रयोगसे मनुष्यकी मृत्यु होती है वही पारा या संखिया विषभागके निकल जानेपर अमृत बन जाता है। इसी प्रकार जहाँतक कर्मोंमें स्वार्थ और आसक्ति है वहींतक उनसे बन्धन या मृत्यु प्राप्त होती है, जिस दिन स्वार्थ और आसक्ति निकालकर कर्मोंकी शुद्धि कर ली जाती है उसी दिन वे अमृत बनकर मनुष्यको परमात्माका अमर पद प्रदान करनेमें कारण बन जाते हैं। इसीलिये किसी भी कर्तव्यकर्मके त्यागकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है बुद्धिको शुद्ध करनेकी! एक मनुष्य सकामभावसे यज्ञ, दान, तप करता है और दूसरा एक मनुष्य केवल अपने वर्णका कर्म, भिक्षा, युद्ध, व्यापार या सेवा करता है परन्तु करता है सबमें परमात्माको व्यापक समझकर, सबको सुख पहुँचाने और सबकी सेवा करनेके पवित्र भावसे, तो वह उस केवल यज्ञ, दान, तप करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके कामना न होनेके कारण सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रहता है और निरन्तर परमात्माकी भावना तथा परमात्माकी आज्ञाका ध्यान रहनेसे लोभ और आसक्ति भी पास नहीं आ सकते। लोभ और आसक्तिके अभावसे उसके द्वारा पाप या निषिद्धकर्मोंका होना तो सम्भव ही नहीं होता।

यहाँ मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञ, दान, तप नहीं करने चाहिये या ये क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा ही उत्तम हैं और अन्तःकरणकी शुद्धिमें तथा परमात्माकी प्राप्तिमें बड़े सहायक हैं,

परन्तु ऐसा होता है उनका प्रयोग निष्कामभावसे करनेपर ही। अतएव यहाँ जो कुछ लिखा गया है वह केवल निष्काम-कर्मयोगकी सच्ची महिमा बतलानेके लिये ही।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी सिद्ध हो गया कि निष्काम-कर्मयोगीसे जान-बूझकर तो पाप नहीं बन सकते परन्तु यदि कहीं भूल, स्वभाव, अज्ञान या भ्रमसे कोई पाप बन भी जाता है तो वह उसके लागू नहीं होता क्योंकि उसका उस कर्ममें कोई स्वार्थ नहीं है। स्वार्थरहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्ताको बाँध नहीं सकता (देखो गीता ४ । १४; ५ । १०) पक्षान्तरमें उसका प्रत्येक कार्य भगवदर्पण होनेके कारण वह परमात्माका सर्वथा कृपापात्र बन जाता है।

राजाके अनेक कर्मचारी होते हैं, सबको योग्यतानुसार वेतन मिलता है और सभीपर राजाके किसी-न-किसी कामकी जिम्मेवारी रहती है। परन्तु प्रत्येक वैतनिक कर्मचारी राजनियमोंसे बँधा हुआ रहता है, यदि भूल या अज्ञानसे भी किसी नियमको कोई कर्मचारी भङ्ग कर देता है तो उसे नियमानुसार दण्डका भागी होना पड़ता है। पर एक ऐसा मनुष्य जो किसी समय किसी प्रकारसे भी राज्य या राजासे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध न कर केवल अहैतुकी राजभक्तिके कारण राजसेवा करता है, उसकी निःस्वार्थ सेवापर राजा मुग्ध रहता है। उसके द्वारा यदि समयपर कोई अज्ञानसे भूल हो जाती है तब भी राजा उससे नाराज नहीं होता, राजा समझता है कि यह तो राज्यका निःस्वार्थ सेवक है ऐसा

सेवक यदि भूलके लिये दण्ड चाहता है तो राजा कहता है भाई! हम तो तुम्हारे उपकारोंसे ही अत्यन्त दबे हुए हैं तुम्हारी एक भूलका तुम्हें क्या दण्ड दें। इतना ही नहीं बल्कि राजा उसके उपकारोंसे अपनेको उसका ऋणी समझकर सब तरहसे उसका हित ही करना चाहता है। इसी प्रकार जो परमात्माका निःस्वार्थ सेवक है, जो अपने प्रत्येक कर्मका समर्पण उस परमात्माकी प्रीतिके लिये उसी-के चरणोंमें कर देता है, उससे यदि कोई भूल होती है तो उसपर अकारण सुहृद् परमात्मा कोई ध्यान नहीं देते। यह अनियम नहीं है किन्तु स्वार्थरहित सेवकके लिये यही नियम है।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्य कर्मोंका आचरण करता हुआ साधक शेषमें परमात्माको प्राप्त हो जाता है परन्तु ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्तके द्वारा भी लोकशिक्षाके लिये राजा जनकादिकी भाँति आजीवन कर्म हो सकते हैं। (देखो गीता ३।२०) यद्यपि उनके लिये कोई कर्म शेष रह नहीं जाते (गीता ३।१७) परन्तु जहाँतक मन और इन्द्रियाँ सचेत रहती हैं वहाँतक उनके लिये कर्म त्याग करनेमें कोई हेतु नहीं देखा जाता। किन्तु कर्मयोगकी सिद्धिको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होते हैं (देखो गीता २।५५ से ५८; १२।१३ से १९)।

ऐसे भगवत्को प्राप्त हुए महापुरुषके कर्म गीता तृतीय अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार केवल लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं और वे कर्म कामना और संकल्पसे शून्य होनेके कारण स्वरूप-

से होते हुए भी वास्तवमें कर्म नहीं समझे जाते (देखो गीता ४ । १९-२०) ।

इस प्रकार निष्काम-कर्मयोगका साधक परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर देनेके कारण अन्तमें परमात्माके प्रसादसे परमात्माको पा जाता है, जिस कर्ममें आदिसे लेकर अन्ततक परमात्माका इतना नित्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध है वह कर्म भक्तिरहित कभी नहीं हो सकता । अतएव गीताका निष्काम-कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है ।

——तथा——

'फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका करना ही उसका स्वरूप है ।'



धर्म क्या है ?



प्र०—कृपापूर्वक आप धर्मकी व्याख्या करें ।

उ०—धर्मकी सच्ची व्याख्या कर सकें ऐसे पुरुष इस जमानेमें मिलने कठिन हैं ।

प्र०—आप जैसा समझते हैं वैसा ही कहनेकी कृपा करें ।

उ०—धर्मका विषय बड़ा गहन है, मुझको धर्मग्रन्थोंका बहुत कम ज्ञान है, वेदका तो मैंने प्रायः अध्ययन ही नहीं किया । मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ ऐसी अवस्थामें धर्मका तत्त्व कहना एक बालकपन-सा है । इसके अतिरिक्त मैं जितना कुछ जानता हूँ उतना भी कह नहीं सकता, क्योंकि जितना जानता हूँ उतना स्वयं कार्यमें परिणत नहीं कर सकता ।

प्र०—खैर, यह बतलाइये कि आप किसको धर्म मानते हैं ?

उ०—जो धारण करने योग्य है ।

प्र०—धारण करने योग्य क्या है ?

उ०—इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाली महापुरुषोंद्वारा दी हुई शिक्षा ।

प्र०—महापुरुष कौन हैं ?

उ०—परमात्माके तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाले तत्त्ववेत्ता पुरुष ।

प्र०—उनके लक्षण क्या हैं ?

उ०—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

(गीता १२ । १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है ।'

'जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समानभाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है ।'

'जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

ये महापुरुषोंके लक्षण हैं ।

प्र०—इन लक्षणोंवाले कोई महापुरुष हिन्दूजातिमें आपकी जानकारीमें इस समय हैं ?

उ०—अवश्य हैं परन्तु मैं कह नहीं सकता ।

प्र०—आप हिन्दू किसको समझते हैं ?

उ०—जो अपनेको हिन्दू मानता हो, वही हिन्दू है ।

प्र०—हिन्दू शब्दका क्या अभिप्राय है ?

उ०—हिन्दुस्तान (आर्यावर्त) में जन्म होना और किसी हिन्दुस्तानी आचार्यके चलाये हुए मतको मानना ।

प्र०—सनातनी, आर्य, सिख, जैन, बौद्ध और ब्राह्म आदि भिन्न-भिन्न मतको माननेवाली तथा भारतकी जंगली जातियाँ क्या सभी हिन्दू हैं ?

उ०—यदि वे अपनेको हिन्दू मानती हों तो अवश्य हिन्दू हैं ।

प्र०—क्या सभी हिन्दुओंद्वारा चलाये हुए मत हिन्दू-धर्म माने जा सकते हैं ?

उ०—अवश्य ।

प्र०—आप इन सब मतोंमें सबसे प्रधान और श्रेयस्कर किस मतको मानते हैं ?

उ०—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मनका निग्रह, इन्द्रियदमन, तितिक्षा, श्रद्धा, क्षमा, वीरता, दया, तेज, सरलता, स्वार्थत्याग, अमानित्व, दम्भहीनता, अपैशुनता, निष्कपटता, विनय, धृति, सेवा, सत्संग, जप, ध्यान, निर्वैरता, निर्भयता, समता, निरहंकारता, मैत्री, दान, कर्तव्यपरायणता और शान्ति इन चालीस गुणोंमेंसे जिस मतमें जितने अधिक गुण हों वही मत सबसे प्रधान और श्रेयस्कर माना जाने योग्य है ।

प्र०—इन चालीसोंकी संक्षेपमें व्याख्या कर दें तो बड़ी कृपा हो !

उ०—अच्छी बात है, सुनिये ।

(१) *अहिंसा*—मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना ।

(२) *सत्य*—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया गया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना ।

(३) *अस्तेय*—किसी प्रकार भी चोरी न करना ।

(४) *ब्रह्मचर्य*—आठ प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना ।

(५) *अपरिग्रह*—ममत्व बुद्धिसे संग्रह न करना ।

(६) *शौच*—बाहर और भीतरकी पवित्रता ।

(७) *सन्तोष*—तृष्णाका सर्वथा अभाव ।

(८) *तप*—स्वधर्म-पालनके लिये कष्टसहन ।

(९) *स्वाध्याय*—पारमार्थिक ग्रन्थोंका अध्ययन और भगवान्के नाम तथा गुणोंका कीर्तन ।

(१०) *ईश्वरभक्ति*—भगवान्में श्रद्धा और प्रेम होना ।

(११) *ज्ञान*—सत् और असत् पदार्थका यथार्थ जानना ।

(१२) *वैराग्य*—इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव ।

(१३) *मनका निग्रह*—मनका वशमें होना ।

(१४) *इन्द्रियदमन*—समस्त इन्द्रियोंका वशमें होना ।

(१५) *तितिक्षा*—शीत, उष्ण और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सहनशीलता ।

(१६) *श्रद्धा*—वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षकी तरह विश्वास ।

(१७) *क्षमा*—अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना ।

(१८) *वीरता*—कायरताका सर्वथा अभाव ।

(१९) *दया*—किसी भी प्राणीको दुःखी देखकर हृदयका पिघल जाना ।

(२०) *तेज*—श्रेष्ठ पुरुषोंकी वह शक्ति, कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त नीचप्रकृति मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे हटकर श्रेष्ठ कर्मोंमें लग जाते हैं ।

(२१) *सरलता*—शरीर और इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणकी सरलता।

(२२) *स्वार्थत्याग*—किसी कार्यसे इस लोक या परलोकके किसी भी स्वार्थको न चाहना ।

(२३) *अमानित्व*—सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना ।

(२४) *दम्भहीनता*—धर्मध्वजीपन अर्थात् ढोंगका न होना ।

(२५) *अपैशुनता*—किसीकी भी निन्दा या चुगली न करना ।

(२६) *निष्कपटता*—अपने स्वार्थ-साधनके लिये किसी बातका भी छिपाव न करना ।

(२७) *विनय*—नम्रताका भाव ।

(२८) *धृति*—भारी विपत्ति आनेपर भी चलायमान न होना ।

(२९) *सेवा*—(सब भूतोंके हितमें रत रहना) समस्त जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी, शरीरद्वारा निरन्तर निःस्वार्थ-भावसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना ।

(३०) *सत्संग*—सन्त-महात्मा पुरुषोंका संग करना ।

(३१) *जप*—अपने इष्टदेवके नाम या मन्त्रका जप करना ।

(३२) *ध्यान*—अपने इष्टदेवका चिन्तन करना ।

(३३) *निर्वैरता*—अपने साथ वैर रखनेवालोंमें भी द्वेष-भाव न होना ।

(३४) *निर्भयता*—भयका सर्वथा अभाव ।

(३५) *समता*—मस्तक, पैर आदि अपने अंगोंकी तरह सबके साथ वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य बर्तावमें भेद रखनेपर भी आत्मरूपसे सबको समभावसे देखना ।

(३६) *निरहंकारता*—मन, बुद्धि, शरीरादिमें 'मैं' पनका और उनसे होनेवाले कर्मोंमें कर्तापनका सर्वथा अभाव ।

(३७) *मैत्री*—प्राणीमात्रके साथ प्रेमभाव ।

(३८) *दान*—जिस देशमें जिस कालमें जिसको जिस वस्तुका अभाव हो उसको वह वस्तु प्रत्युपकार और फलकी इच्छा न रखकर हर्ष और सत्कारके साथ प्रदान करना ।

(३९) *कर्तव्यपरायणता*—अपने कर्तव्यमें तत्पर रहना ।

(४०) *शान्ति*—इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तःकरणमें निरन्तर प्रसन्नताका रहना ।

प्र०—आप वर्णाश्रम-धर्मको मानते हैं या नहीं ?

उ०—मानता हूँ और उसका पालन करना अच्छा समझता हूँ ।

प्र०—जो वर्णाश्रम-धर्मका पालन नहीं करते उनको क्या आप हिन्दू नहीं मानते ?

उ०—जब वे अपनेको हिन्दू मानते हैं तब उन्हें हिन्दू न माननेका मेरा क्या अधिकार है ? परन्तु वर्णाश्रम-धर्म न माननेवालोंकी शास्त्रोंमें निन्दा की गयी है । अतएव वर्णाश्रम-धर्मको अवश्य मानना चाहिये ।

प्र०--आप वर्ण जन्मसे मानते हैं या कर्मसे ?

उ०--जन्म और कर्म दोनोंसे ।

प्र०--इन दोनोंमें आप प्रधान किसको मानते हैं ?

उ०-अपने-अपने स्थानमें दोनों ही प्रधान हैं ।

प्र०--वर्ण कितने हैं ?

उ०--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं ।

प्र०--ब्राह्मणके क्या कर्म हैं ?

उ०--

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

(गीता १८ । ४२)

'अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इन्द्रियाँ और शरीरकी सरलता, आस्तिकबुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्वका अनुभव भी ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं यानी धर्म हैं ।'

इनके अतिरिक्त यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, विद्या पढ़ना, विद्या पढ़ाना ये कर्तव्यकर्म हैं । इनमें यज्ञ करना, दान देना और विद्या पढ़ना ये तीन तो सामान्य धर्म हैं; और यज्ञ कराना, दान लेना और विद्या पढ़ाना ये जीविकाके विशेष धर्म हैं ।

प्र०--ब्राह्मणकी जीविकाके सर्वोत्तम धर्म क्या हैं ?

उ०—किसानके अनाज घर ले जानेके बाद खेतमें और अनाजके क्रय-विक्रयके स्थानमें जमीनपर बिखरे हुए दानोंको बटोरकर उनसे शरीर-निर्वाह करना सर्वोत्तम है। इसीको ऋत और सत् कहा है। परन्तु यह प्रणाली नष्ट हो जानेके कारण इस जमानेमें इस प्रकार निर्वाह होना असम्भव-सा है। अतएव साधारण जीविकाके अनुसार ही निर्वाह करना चाहिये।

प्र०—साधारण जीविकामें कौन उत्तम है ?

उ०—बिना याचना किये जो अपने आपसे प्राप्त होता है वह पदार्थ सबसे उत्तम है, उसीको अमृत कहते हैं। नियत वेतनपर विद्या पढ़ाना और माँगकर दक्षिणा या दान लेना निन्द्य है। इनमें भी माँगकर दान लेनेको तो विषके सदृश कहा है।

प्र०—इस वृत्तिसे निर्वाह न हो तो ब्राह्मणको क्या करना चाहिये ?

उ०—क्षत्रियकी वृत्तिसे निर्वाह करे, उससे भी काम न चले तो वैश्य-वृत्तिसे जीविका चलावे। परन्तु दास-वृत्तिका अवलम्बन आपत्तिकालमें भी न करे।

प्र०—क्षत्रियके क्या कर्म हैं ?

उ०—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८। ४३)

'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।'

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

(मनुस्मृति १ । ८९)

'प्रजाकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयोंमें न लगना संक्षेपसे ये क्षत्रियके कर्म हैं।'

इन्हींमेंसे प्रजाका पालन करना, सैनिक बनना, न्याय करना, कर लेना और शस्त्रोंद्वारा दूसरोंकी रक्षा करना इत्यादि जीविकाके कर्म हैं। दान देना, यज्ञ करना और विद्या पढ़ना ये सामान्य धर्म हैं।

प्र०—इन कर्मोंसे क्षत्रियकी जीविका न चले तो उसे क्या करना चाहिये ?

उ०—वैश्य-वृत्तिसे निर्वाह करे, उससे भी न चले तो शूद्र-वृत्तिसे काम चलावे।

प्र०—वैश्यके क्या कर्म हैं ?

उ०—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

(मनुस्मृति १ । ९०)

'पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार, ब्याज और खेती ये वैश्यके कर्म हैं।'

पशुपालन, कृषि तथा सत् और पवित्र व्यापार ये स्वाभाविक और जीविकाके भी कर्म हैं। ब्याज भी जीविकाका है परन्तु केवल ब्याज उपजाना निन्द्य है। यज्ञ, दान और अध्ययन सामान्य धर्म हैं।

प्र०—सत् और पवित्र व्यापार किसे कहते हैं, बताइये ?

उ०—दूसरेके हकपर नीयत न रखते हुए झूठ-कपटको छोड़कर न्यायपूर्वक पवित्र वस्तुओंका क्रय-विक्रय करना सत् और पवित्र व्यापार है * ।

प्र०—इनसे जीविका न चले तो वैश्यको क्या करना चाहिये ?

उ०—शूद्रवृत्तिसे काम चलावे परन्तु अपवित्र वस्तुओंका और सट्टेका व्यापार कभी न करना चाहिये ।

प्र०—कृपाकर अपवित्र वस्तुओंकी व्याख्या कीजिये ।

उ०—मद्य, मांस, हड्डी, चमड़ा, सींग, लाह, चपड़ा, नील इत्यादि शास्त्रवर्जित घृणित पदार्थ अपवित्र हैं ।

प्र०—शूद्रके क्या कर्म हैं ?

उ०—सेवा और कारीगरीके काम ही इनके स्वाभाविक और आजीविकाके कर्म हैं ।

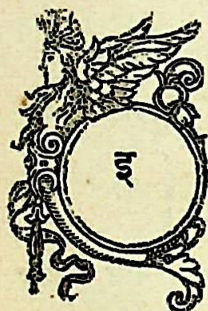


---

* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है उसका नाम सत्य व्यवहार है ।

धर्म और उसका प्रचार





इस समय संसारकी प्रायः सभी जातियाँ न्यूनाधिक-रूपसे अपने-अपने धर्मकी उन्नति और उसके प्रचारके लिये अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार प्रयत्न कर रही हैं । इनमेंसे कुछ लोग तो अपने धर्मभावोंका सन्देश संसारके कोने-कोनेमें पहुँचा देना चाहते हैं और वे इसके लिये कोई काम भी उठा नहीं रखते । क्रिश्चियन मतका प्रचार करनेके लिये ईसाई जगत् कितनी धनराशिको पानीकी तरह बहा रहा है । अमेरिका-तकसे करोड़ों रुपये इस कार्यके लिये भारतवर्षमें आते हैं, लाखों ईसाई स्त्री-पुरुष सुदूरदेशोंमें जा-जाकर भाँति-भाँतिसे लोकसेवाकर तथा लोगोंको अनेक तरहसे लोभ-लालच देकर, फुसलाकर और उन्हें उलटी-सीधी बात समझाकर अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं ।

कुछ भूले हुए लोग परधन, परस्त्री-अपहरण करने, धर्मके नामपर हिंसा करने और परधर्मीकी हत्या करनेको ही धर्म मान बैठे हैं और उसीका प्रचार करना चाहते हैं । इसी प्रकारके धर्मप्रचारसे चारों ओर अशान्ति और दुःखका विस्तार होता है । अपनी बुद्धिसे लोक-कल्याणके लिये जिस धर्मको अधिक उपयोगी समझा जाय, उसके प्रचारके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है । इस न्यायसे

सवा हाथकी दूरीपर बारह वर्षकी सुकुमार अवस्थाके रूपमें भूमिसे सवा हाथ ऊँचे आकाशमें विराजमान परमेश्वरको देखता हुआ उनकी मानसिक पूजा करता है।

मानसिक पूजाकी विधि

ॐ पादयोः पाद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १ ॥

इस मन्त्रको बोलकर शुद्धजलसे श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंको धोकर उस जलको अपने मस्तकपर धारण करना ॥१॥

ॐ हस्तयोरर्घ्यं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥२॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरि भगवान्‌के हस्तकमलोंपर पवित्र जल छोड़ना ॥२॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥३॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीनारायणदेवको आचमन कराना ॥३॥

ॐ गन्धं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥४॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरि भगवान्‌के ललाटपर रोली लगाना ॥४॥

ॐ मुक्ताफलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥५॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के ललाटपर मोती लगाना ॥५॥

ॐ पुष्पं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥६॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के मस्तकपर और नासिकाके सामने आकाशमें पुष्प छोड़ना ॥६॥

ॐ मालां समर्पयामि नारायणाय नमः ॥७॥

इस मन्त्रको बोलकर पुष्पोंकी माला श्रीहरिके गलेमें पहराना ७

ॐ धूपमाघ्रापयामि नारायणाय नमः ॥८॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के सामने अग्निमें धूप छोड़ना ८

ॐ दीपं दर्शयामि नारायणाय नमः ॥९॥

इस मन्त्रको बोलकर घृतका दीपक जलाकर श्रीविष्णु भगवान्‌के सामने रखना ॥९॥

ॐ नैवेद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१०॥

इस मन्त्रको बोलकर मिश्रीसे श्रीहरि भगवान्‌के भोग लगाना ॥१०॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥११॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को आचमन कराना ॥११॥

ॐ ऋतुफलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१२॥

इस मन्त्रको बोलकर ऋतुफल (केला आदि) से श्रीभगवान्‌के भोग लगाना ॥१२॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१३॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को फिर आचमन कराना ॥१३॥

ॐ पूगीफलं सताम्बूलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१४॥

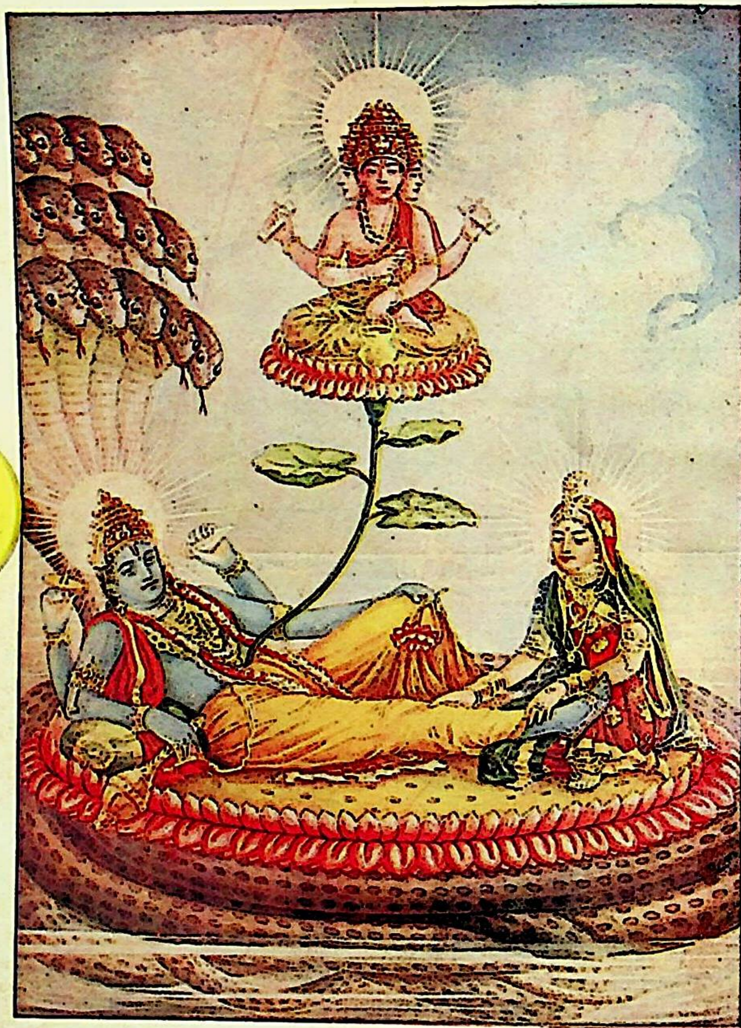
इस मन्त्रको बोलकर सुपारीसहित नागरपान श्रीभगवान्‌के अर्पण करना ॥१४॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१५॥

इस मन्त्रको बोलकर पुनः श्रीहरिको आचमन कराना। फिर सुवर्णके थालमें कपूरको प्रदीप्त करके श्रीनारायणदेवकी आरती उतारना ॥१५॥

ॐ पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१६॥

श्रीशेषशायी *



शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

इस मन्त्रको बोलकर सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंकी अञ्जलि भर-कर श्रीहरि भगवान्‌के मस्तकपर छोड़ना ॥१६॥

फिर चार प्रदक्षिणा करके श्रीनारायणदेवको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करना ॥ ९ ॥

उक्त प्रकारसे श्रीहरि भगवान्‌की मानसिक पूजा करनेके पश्चात् उनको अपने हृदय-आकाशमें शयन कराके जीवात्मा अपने मन-ही-मनमें श्रीभगवान्‌के स्वरूप और गुणोंका वर्णन करता हुआ वारम्बार शिरसे प्रणाम करता है—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नीलमेघके समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र विष्णु भगवान्‌को मैं शिरसे प्रणाम करता हूँ ।

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका

पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वियोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जो गम्भीर हैं, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं कर सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवल कल्पनामात्र ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे अनुपमेय श्रीहरि भगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णु भगवान् मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं, जिनके सारे अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई शोभा देती हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्‌को मेरा बार-बार नमस्कार है ॥ १० ॥

जीवात्मा मन ही मनमें श्रीहरि भगवान्‌को पंखेसे हवा करता हुआ एवं उनके चरणोंकी सेवा करता हुआ उनकी स्तुति करता है—

अहो! हे प्रभो! आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, आप ही महेश हैं, आप ही सूर्य हैं, आप ही चन्द्रमा और तारागण हैं, आप ही भूर्भुवः स्वः तीनों लोक हैं तथा सातों द्वीप और चौदह भुवन आदि जो कुछ भी है, सब आपहीका स्वरूप है, आप ही विराट्स्वरूप हैं, आप ही हिरण्यगर्भ हैं, आप ही चतुर्भुज हैं और मायातीत शुद्ध ब्रह्म भी आप ही हैं, आपहीने अपने अनेक रूप धारण किये हैं, इसलिये सम्पूर्ण संसार आपहीका स्वरूप है, तथा द्रष्टा, दृश्य, दर्शन जो कुछ भी है, सो सब आप ही हैं* । अतएव—

---

* 'एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः' (विष्णुसहस्रनाम)
अर्थ—पृथक् पृथक् संपूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाला महान् भूत एक ही

नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे॥

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिभूत पृथ्वीको धारण करनेवाले और युग-युगमें प्रकट होनेवाले. अनन्त रूपधारी (आप) विष्णु भगवान्‌के लिये नमस्कार है।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

अर्थ—आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या और आप ही धन हैं, हे देवोंके देव! आप ही मेरे सर्वस्व हैं॥ ११॥

उक्त प्रकारसे परमात्माकी प्रेम-भक्तिमें लगे हुए पुरुषका जब परमात्मामें अतिशय प्रेम हो जाता है उस कालमें उसको अपने शरीरादिकी भी सुध नहीं रहती, जैसे सुन्दरदासजीने प्रेम-भक्तिका लक्षण करते हुए कहा है—

इन्दव छन्द

प्रेम लग्यो परमेश्वरसों, तब भूलि गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरै जित ही तित, नेक रही न शरीर सँभारा॥

विष्णु अनेक रूपसे स्थित है। तथा 'एकोऽहं बहु स्याम्' (इति श्रुतिः) अर्थ—(सृष्टिके आदिमें भगवान्‌ने सङ्कल्प किया कि) मैं एक ही बहुत रूपोंमें होऊँ!

श्वास उसास उठे सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा ।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, छाकि परयौ रस पी मतवारा ॥

नाराच छन्द

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यो करै ।
न शंक भूत प्रेतकी, न देव यक्षतें डरै ॥
सुने न कान औरकी, द्रसै न और इच्छना ।
कहै न मुख और बात, भक्ति-प्रेम लच्छना ॥

बीजुमाला छन्द

प्रेम अधीनो छाक्यो डोलै, क्योंकि क्योंही बाणी बोलै ।
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा ॥

मनहरन छन्द

नीर बिनु मीन दुःखी, क्षीर बिनु शिशु जैसे,
पीरकी ओषधि बिनु, कैसे रह्यो जात है ।
चातक ज्यों स्वातिबूँद, चन्दको चकोर जैसे,
चन्दनकी चाह करि, सर्प अकुलात है ॥
निर्धन ज्यों धन चाहे, कामिनीको कन्त चाहे,
ऐसी जाके चाह ताहि, कछु न सुहात है ।
प्रेमको प्रवाह ऐसो, प्रेम तहाँ नेम कैसो,
सुन्दर कहत यह, प्रेमहीकी बात है ॥

छप्पय छन्द

कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै, रोवन फिर लागे ।
कबहुँक गद्गद कण्ठ, शब्द निकसे नहिं आगे ॥

कबहुँक हृदय उमङ्ग, बहुत ऊँचे स्वर गावे।
कबहुँक ह्वै मुख मौन, मगन ऐसे रहि जावे॥
चित्त-वित्त हरिसों लग्यो, सावधान कैसे रहै।
यह प्रेम लक्षणा भक्ति है, शिष्य सुनहु सुन्दर कहै॥१२॥

सगुण भगवान्‌के अन्तर्द्धान हो जानेपर जीवात्मा शुद्ध सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें मग्न हुआ कहता है—

अहो! आनन्द! आनन्द! अति आनन्द! सर्वत्र एक वासुदेव-ही-वासुदेव व्याप्त है*। अहो! सर्वत्र एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है।

कहाँ काम, कहाँ क्रोध, कहाँ लोभ, कहाँ मोह, कहाँ मद, कहाँ मत्सरता, कहाँ मान, कहाँ क्षोभ, कहाँ माया, कहाँ मन, कहाँ बुद्धि, कहाँ इन्द्रियाँ, सर्वत्र एक सच्चिदानन्द-ही-सच्चिदानन्द व्याप्त है। अहो! अहो! सर्वत्र एक सत्यरूप, चेतनरूप, आनन्दरूप, घनरूप, पूर्णरूप, ज्ञानस्वरूप, कूटस्थ, अक्षर, अव्यक्त, अचिन्त्य, सनातन, परब्रह्म, परम अक्षर, परिपूर्ण, अनिर्देश्य, नित्य, सर्वगत, अचल, ध्रुव, अगोचर, मायातीत, अग्राह्य, आनन्द, परमानन्द, महानन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न कुछ भी नहीं है॥१३॥

इति शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

---

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ [गीता अ० ७ श्लो० १९]
अर्थ—(जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मेरेको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।

ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है





वास्तवमें नामकी महिमा वही पुरुष जान सकता है, जिसका मन निरन्तर श्रीभगवन्नाममें संलग्न रहता है, नामकी प्रिय और मधुर स्मृतिसे जिसके क्षण-क्षणमें रोमाञ्च और अश्रुपात होते हैं, जो जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलताके समान क्षणभरके नाम-वियोगसे भी विकल हो उठता है, जो महापुरुष निमेषमात्रके लिये भी भगवान्‌के नामको नहीं छोड़ सकता और जो निष्काम भावसे निरन्तर प्रेमपूर्वक जप करते-करते उसमें तल्लीन हो चुका है। ऐसा ही महात्मा पुरुष इस विषयके पूर्णतया वर्णन करनेका अधिकारी है और उसीके लेखसे संसारमें विशेष लाभ पहुँच सकता है।

यद्यपि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ, उस अपरिमित गुणनिधान भगवान्‌के नामकी अवर्णनीय महिमाका वर्णन करनेका मुझमें सामर्थ्य नहीं है, तथापि अपने कतिपय मित्रोंके अनुरोधसे मैंने कुछ निवेदन करनेका साहस किया है। अतएव इस लेखमें जो कुछ त्रुटियाँ रही हों उनके लिये आपलोग क्षमा करें।

महिमाका दिग्दर्शन

भगवन्नामकी अपार महिमा है, सभी युगोंमें इसकी महिमा-का विस्तार है। शास्त्रों और साधु महात्माओंने सभी युगोंके लिये मुक्तकण्ठसे नाम-महिमाका गान किया है परन्तु कलियुगके लिये तो इसके समान मुक्तिका कोई दूसरा उपाय ही नहीं बतलाया गया। यथा—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

सत्ययुगमें भगवान् विष्णुके ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंसे, द्वापरमें भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेसे जो फल होता है, कलियुगमें केवल हरिके नाम-संकीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।

कलियुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

कलियुग सम युग आन नहिं, जो नर कर विश्वास।
गाइ राम-गुण-गण विमल, भव तरु बिनहिं प्रयास॥
राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहु, जो चाहसि उजियार॥

सकल कामना हीन जे, रामभक्ति रसलीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिनहुँ किये मन मीन॥
शबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुणगाथ॥
रामचन्द्रके भजन बिनु, जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवन्त अपि सोपि नर, पशु बिनु पूँछ विषान॥
वारि मथे बरु होइ घृत, सिकताते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भक्त होहिं मुद मङ्गलवासा॥
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भक्त-शिरोमणि भे प्रहलादू॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बश करि राखेहु रामू॥
अपर अजामिल गज गणिकाऊ। भये मुक्त हरिनाम प्रभाऊ॥
चहुँ युग तीन काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव विशोका॥
कहहुँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुण गाई॥

नाम-महिमामें प्रमाणोंका पार नहीं है। हमारे शास्त्र इससे भरे पड़े हैं, परन्तु अधिक विस्तारभयसे यहाँ इतने ही लिखे जाते हैं। संसारमें जितने मतमतान्तर हैं प्रायः सभी ईश्वरके नामकी महिमाको स्वीकार करते और गाते हैं। अवश्य ही रुचि और भावके अनुसार नामोंमें भिन्नता रहती है परन्तु परमात्माका नाम कोई-सा भी क्यों न हो, सभी एक-सा लाभ पहुँचानेवाले हैं। अतएव जिसको जो नाम रुचिकर प्रतीत हो वह उसीके जपका ध्यानसहित अभ्यास करे।

मेरा अनुभव

कुछ मित्रोंने मुझे इस विषयमें अपना अनुभव लिखनेके लिये अनुरोध किया है, परन्तु जब कि मैंने भगवन्नामका विशेष संख्या-में जप ही नहीं किया तब मैं अपना अनुभव क्या लिखूँ ? भगवत्-कृपासे जो कुछ यत्किञ्चित् नामस्मरण मुझसे हो सका है उसका माहात्म्य भी पूर्णतया लिखा जाना कठिन है ।

नामका अभ्यास मैं लड़कपनसे ही करने लगा था । जिससे शनैः शनैः मेरे मनकी विषयवासना कम होती गयी और पापोंसे हटनेमें मुझे बड़ी ही सहायता मिली । काम-क्रोधादि अवगुण कम होते गये, अन्तःकरणमें शान्तिका विकास हुआ । कभी-कभी नेत्र बन्द करनेसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अच्छा ध्यान भी होने लगा । सांसारिक स्फुरणा बहुत कम हो गयी । भोगोंमें वैराग्य हो गया । उस समय मुझे वनवास या एकान्त स्थानका रहन-सहन अनुकूल प्रतीत होता था !

इस प्रकार अभ्यास होते-होते एक दिन स्वप्नमें श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीसहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन हुए और उनसे बातचीत भी हुई । श्रीरामचन्द्रजीने वर माँगनेके लिये मुझसे बहुत कुछ कहा पर मेरी इच्छा माँगनेकी नहीं हुई, अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने इसके सिवा और कुछ नहीं माँगा कि 'आपसे मेरा वियोग कभी न हो ।' यह सब नामका ही फल था !

इसके बाद नामजपसे मुझे और भी अधिकतर लाभ हुआ, जिसकी महिमा वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ । हाँ, इतना अवश्य कह सकता

हूँ कि नामजपसे मुझे जितना लाभ हुआ है, उतना श्रीमद्भगवद्गीताके अभ्यासको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हुआ !

जब-जब मुझे साधनसे च्युत करनेवाले भारी विघ्न प्राप्त हुआ करते थे, तब-तब मैं प्रेमपूर्वक भावनासहित नाम-जप करता था और उसीके प्रभावसे मैं उन विघ्नोंसे छुटकारा पाता था। अतएव मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि साधन-पथके विघ्नोंको नष्ट करने और मनमें होनेवाली सांसारिक स्फुरणाओंका नाश करनेके लिये स्वरूप-चिन्तनसहित प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-जप करनेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है। जब कि साधारण संख्यामें भगवन्नामका जप करनेसे ही मुझे इतनी परम शान्ति, इतना अपार आनन्द और इतना अनुपम लाभ हुआ है जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, तब जो पुरुष भगवन्नामका निष्काम भावसे ध्यानसहित नित्य-निरन्तर जप करते हैं, उनके आनन्दकी महिमा तो कौन कह सकता है ?

नामजप किसलिये करना चाहिये ?

श्रुति कहती है:—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० २।१६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकार-रूप अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

श्रुतिके इस कथनके अनुसार, कल्पवृक्षरूप भगवद्भजनके

प्रतापसे जिस वस्तुको मनुष्य चाहता है, उसे वही मिल सकती है। परन्तु आत्माका कल्याण चाहनेवाले सच्चे प्रेमी भक्तोंको तो निष्काम भावसे ही भजन करना चाहिये। शास्त्रोंमें निष्काम प्रेमी भक्तकी ही अधिक प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌ने भी कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७।१६, १७)

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझे भजते हैं। उनमें भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

इस प्रकार निष्काम प्रेमपूर्वक होनेवाले भगवद्भजनके प्रभावको जो मनुष्य जानता है, वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलता और भगवान् भी उसको नहीं भूलते। भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत

देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे नित्य स्थित है ।

भला ! सच्चा प्रेमी क्या अपने प्रेमास्पदको छोड़कर कभी दूसरेको मनमें स्थान दे सकता है ? जो भाग्यवान् पुरुष परम सुखमय परमात्माके प्रभावको जानकर उसे ही अपना एकमात्र प्रेमास्पद बना लेते हैं वे तो अहर्निश उसीके प्रिय नामकी स्मृतिमें तल्लीन रहते हैं, वे दूसरी वस्तु न कभी चाहते हैं और न उन्हें सुहाती ही है ।

अतएव जहाँतक ऐसी अवस्था न हो वहाँतक ऐसा अभ्यास करना चाहिये । नामोच्चारण करते समय मन प्रेममें इतना मग्न हो जाना चाहिये कि उसे अपने शरीरका भी ज्ञान न रहे । भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेम-भक्ति और भगवत्-साक्षात्कारिता-के सिवाय अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये ।

निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है ।

यदि कोई शङ्का करे कि बहुत लोग भगवन्नामका जप किया करते हैं परन्तु उनके कोई विशेष लाभ होता हुआ नहीं देखा जाता, तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि उन लोगोंने या तो विधिसहित जपका अभ्यास ही नहीं किया होगा या अपने जप-रूप परमधनके बदलेमें तुच्छ सांसारिक भोगोंको खरीद लिया होगा, नहीं तो उन्हें अवश्य ही विशेष लाभ होता, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

इसलिये नामजप किसी प्रकारकी भी छोटी-बड़ी कामनाके लिये न करके केवल भगवत्के विशुद्ध प्रेमके लिये ही करना चाहिये।

नामजप कैसे करना चाहिये ?

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

'तस्य वाचकः प्रणवः ।'

(योग० १।२७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

'तज्जपस्तदर्थभावनम् ।'

(योग० १।२८)

'उस परमात्माके नाम-जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना !'

'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'

(योग० १।२९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि नामजप नामीके स्वरूपचिन्तन-सहित करना चाहिये। स्वरूपचिन्तनयुक्त नामजपसे अन्तरायोंका नाश और भगवत्-प्राप्ति होती है।

यद्यपि नामी नामके ही अधीन है। श्रीगोस्वामीजी महाराजने कहा है—

देखिये रूप नाम आधीना।
रूपज्ञान नहिं नाम विहीना ॥

सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे ।
आवत हृदय सनेह बिशेखे ॥

इसलिये स्वरूपचिन्तनकी चेष्टा किये बिना भी केवल नाम-जपके प्रतापसे ही साधकको समयपर भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार अपने आप ही हो सकता है, परन्तु उसमें विलम्ब हो जाता है। भगवान्‌के मनमोहन स्वरूपका चिन्तन करते हुए जपका अभ्यास करनेसे बहुत ही शीघ्र लाभ होता है, क्योंकि निरन्तर चिन्तन होनेसे भगवान्‌की स्मृतिमें अन्तर नहीं पड़ता।

इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(८।७)

अतएव हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा। भगवान्‌की इस आज्ञाके अनुसार उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और प्रत्येक सांसारिक कार्य करते समय साधकको नाम-जपके साथ-ही-साथ मन, बुद्धिसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और निश्चय करते रहना चाहिये। जिससे क्षणभरके लिये भी उसकी स्मृतिका वियोग न हो।

इसपर यदि कोई पूछे कि किस नामका जप अधिक लाभदायक है ? और नामके साथ भगवान्‌के कैसे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये ? तो इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि

परमात्माके अनेक नाम हैं उनमेंसे जिस साधककी जिस नाममें अधिक रुचि और श्रद्धा हो, उसे उसीके नामजपसे विशेष लाभ होता है। अतएव साधकको अपनी रुचिके अनुकूल ही भगवान्के नामका जप और स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। एक बात अवश्य है कि जिस नामका जप किया जाय, स्वरूपका चिन्तन भी उसीके अनुसार ही होना चाहिये। उदाहरणार्थ—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।' इस मन्त्रका जप करनेवालेको सर्वव्यापी वासुदेवका ध्यान करना चाहिये। 'ॐ नमो नारायणाय।' इस मन्त्रका जप करनेवालेको चतुर्भुज श्रीविष्णु भगवान्का ध्यान करना चाहिये। 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रका जप करनेवालेको त्रिनेत्र भगवान् शंकरका ध्यान करना उचित है। केवल ओंकारका जप करनेवालेको सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन शुद्धब्रह्मका चिन्तन करना उचित है। श्रीरामनामका जप करनेवालेको श्रीदशरथनन्दन भगवान् रामचन्द्रजीके स्वरूपका चिन्तन करना लाभप्रद है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस मन्त्रका जप करनेवालेके लिये श्रीराम, कृष्ण, विष्णु या सर्वव्यापी ब्रह्म आदि सभी रूपोंका अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार ध्यान किया जा सकता है, क्योंकि यह सब नाम सभी रूपोंके वाचक हो सकते हैं।

इन उदाहरणोंसे यही समझना चाहिये कि साधकको गुरुसे जिस नाम-रूपका उपदेश मिला हो, जिस नाम और जिस रूप-

में श्रद्धा, प्रेम और विश्वासकी अधिकता हो तथा जो अपनी आत्माके अनुकूल प्रतीत होता हो, उसे उसी नाम-रूपके जप, ध्यानसे अधिक लाभ हो सकता है।

परन्तु नाम-जपके साथ ध्यान जरूर होना चाहिये। वास्तवमें नामके साथ नामीकी स्मृति होना अनिवार्य भी है। मनुष्य जिस-जिस वस्तुके नामका उच्चारण करता है उस-उस वस्तुके स्वरूपकी स्मृति उसे एक बार अवश्य होती है और जैसी स्मृति होती है, उसीके अनुसार भला-बुरा परिणाम भी अवश्य होता है। जैसे कोई मनुष्य कामके वशीभूत होकर जब किसी स्त्रीका स्मरण करता है तब उसकी स्मृतिके साथ ही उसके शरीरमें काम जागृत होकर वीर्यपातादि दुर्घटनाको घटा देता है। इसी प्रकार वीर-रस और करुणा-रसप्रधान वृत्तान्तोंकी स्मृतिसे तदनुसार ही मनुष्यकी वृत्तियाँ और उसके भाव बन जाते हैं। साधु पुरुषको याद करनेसे मनमें श्रेष्ठ भावोंकी जागृति होती है और दुराचारीकी स्मृतिसे बुरे भावोंका आविर्भाव होता है। जब लौकिक स्मरणका ऐसा परिणाम अनिवार्य है तब परमात्माके स्मरणसे परमात्माके भाव और गुणोंका अन्तःकरणमें आविर्भाव हो, इसमें तो सन्देह ही क्या है?

अतएव साधकको भगवान्के प्रेममें विह्वल होकर निष्काम भावसे नित्य-निरन्तर दिन-रात कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी ध्यानसहित श्रीभगवन्नाम-जपकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

सत्संगसे ही नाम-जपमें श्रद्धा होती है!

नामकी इतनी महिमा होते हुए भी प्रेम और ध्यानयुक्त

भगवन्नाममें लोग क्यों नहीं प्रवृत्त होते ? इसका उत्तर यह है कि भगवत्-भजनके असली मर्मको वही मनुष्य जान सकता है जिसपर भगवान्‌की पूर्ण दया होती है ।

यद्यपि भगवान्‌की दया तो सदा ही सबपर समान भावसे है परन्तु जबतक उसकी अपार दयाको मनुष्य पहचान नहीं लेता, तबतक उसे उस दयासे लाभ नहीं होता । जैसे किसीके घरमें गड़ा हुआ धन है, परन्तु जबतक वह उसे जानता नहीं तबतक उसे कोई लाभ नहीं होता, परन्तु वही जब किसी जानकार पुरुषसे जान लेता है और यदि परिश्रम करके उस धनको निकाल लेता है तो उसे लाभ होता है । इसी प्रकार भगवान्‌की दयाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके संगसे मनुष्यको भगवान्‌की नित्य दयाका पता लगता है, दयाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है और भजनके नित्य-निरन्तर अभ्याससे उसके समस्त सञ्चित पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है ।

नाममें पापनाशकी स्वाभाविक शक्ति है

यहाँपर यदि कोई शङ्का करे कि यदि भगवान् भजन करनेवालेके पापोंका नाश कर देते हैं या उसे माफी दे देते हैं तो क्या उनमें विषमताका दोष नहीं आता ? इसका उत्तर यह है कि जैसे अग्निमें जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति स्वाभाविक है इसी प्रकार भगवन्नाममें भी पापोंके नष्ट करनेकी स्वाभाविक शक्ति है । इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरेको प्रेमसे भजते हैं वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैसे शीतसे व्यथित अनेक पुरुषोंमेंसे जो पुरुष अग्निके समीप जाकर अग्निका सेवन करता है उसीके शीतका निवारण कर अग्नि उसकी उस व्यथाको मिटा देती है परन्तु जो अग्निके समीप नहीं जाते उनकी व्यथा नहीं मिटती । इससे अग्निमें कोई विषमताका दोष नहीं आता, क्योंकि वह सभीको अपना ताप देकर उनकी व्यथा निवारण करनेको सर्वदा तैयार है । कोई समीप ही न जाय तो अग्नि क्या करे ? इसी प्रकार जो पुरुष भगवान्‌का भजन करता है उसीके अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान् उसके दुःखोंका सर्वथा नाश करके उसका कल्याण कर देते हैं । इसलिये भगवान्‌में विषमता-का कोई दोष नहीं आता ।

नाम-भजनसे ही ज्ञान हो जाता है

(शङ्का) यह बात मान ली गयी कि भगवन्नामसे पापोंका नाश होता है परन्तु परमपदकी प्राप्ति उससे कैसे हो सकती है ? क्योंकि परमपदकी प्राप्ति तो केवल ज्ञानसे होती है ।

(उत्तर) यह ठीक है । परमपदकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती

है, परन्तु श्रद्धा, प्रेम और विश्वासपूर्वक निष्काम भावसे किये जानेवाले भजनके प्रभावसे भगवान् उसे अपना वह ज्ञान प्रदान करते हैं कि जिससे उसे भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वज्ञान हो जाता है और उससे उस साधकको परमपदकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ९—११)

'निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले, मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ।'

अतएव निरन्तर प्रेमपूर्वक निष्काम नाम-जप और स्वरूप-

चिन्तनसे स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञानसे साधकको सत्वर ही परमपदकी प्राप्ति हो जाती है ।

नामकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

कुछ भाई नाम-जपके महत्वको नहीं समझनेके कारण उसकी निन्दा कर बैठते हैं, वे कहा करते हैं कि—राम-राम करना और 'टायँ-टायँ' करना एक समान ही है । साथ ही यह भी कहा करते हैं कि नाम-जपके ढोंगसे आलसी बनकर अपने जीवनको नष्ट करना है । इसी तरहकी और भी अनेक बातें कही जाती हैं।

ऐसे भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि बिना ही जाँच किये इस प्रकारसे नाम-जपकी निन्दाकर जप करनेवालोंके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेकी बुरी चेष्टा न किया करें, बल्कि कुछ समयतक नाम-जप करके देखें कि उससे क्या लाभ होता है । व्यर्थ ही निन्दा या उपेक्षाकर पाप-भाजन नहीं बनना चाहिये ।

नाम-जपमें प्रमाद और आलस्य करना उचित नहीं

बहुत-से भाई नाम-जप या भजनको अच्छा तो समझते हैं परन्तु प्रमाद या आलस्यवश भजन नहीं करते। परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है । इस प्रकार दुर्लभ परन्तु क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके जो भजनमें आलस्य करते हैं उन्हें क्या कहा जाय ? जीवनका सद्व्यय भजनमें ही है, यदि अभी प्रमादसे इस अमूल्य सुअवसरको खो दिया तो पीछे सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा । कबीरजीने कहा है—

मरोगे मरि जाओगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे, छाड़ि बसन्ता गाम॥
आजकालकी पाँच दिन, जंगल होगा वास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास॥
आज कहे मैं काल भजूँ, काल कहे फिर काल।
आजकालके करत ही, औसर जासी चाल॥
काल भजन्ता आज भज, आज भजन्ता अब।
पलमें परलय होयगी, फेर भजेगा कब॥

अतएव आलस्य और प्रमादका परित्याग करके जिस-किस प्रकारसे भी हो, उठते, बैठते, सोते और सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मोंको करते हुए सदा-सर्वदा भजन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

'मा' बच्चोंको भुलानेके लिये उनके सामने नाना प्रकारके खिलौने डाल देती है, कुछ खानेके पदार्थ उनके हाथमें दे देती है, जो बच्चे उन पदार्थोंमें रमकर 'मा' के लिये रोना छोड़ देते हैं, मा भी उन्हें छोड़कर अपना दूसरा काम करने लगती है परन्तु जो बच्चा किसी भी भुलावेमें न भूलकर केवल 'मा-मा' पुकारा करता है, उसे 'मा' अवश्य ही अपनी गोदमें लेनेको बाध्य होती है, ऐसे जिद्दी बच्चेके पास घरके सारे आवश्यक कामोंको छोड़कर भी माको तुरन्त आना और उसे अपने हृदयसे लगाकर दुलारना पड़ता है, क्योंकि माता इस बातको जानती है कि यह बच्चा मेरे सिवा और किसी विषयमें भी नहीं भूलता है।

इसी प्रकार भगवान् भी भक्तकी परीक्षाके लिये उसकी इच्छा-नुसार उसे अनेक प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर भुलाना चाहते हैं, जो उनमें भूल जाता है वह तो इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण होता है परन्तु जो भाग्यवान् भक्त संसारके समस्त पदार्थोंको तुच्छ, क्षणिक और नाशवान् समझकर उन्हें लात मार देता है और प्रेममें मग्न होकर सच्चे मनसे उस सच्चिदानन्दमयी मातासे मिलनेके लिये ही लगातार रोया करता है, ऐसे भक्तके लिये सम्पूर्ण कामोंको छोड़कर भगवान्को स्वयं तुरन्त ही आना पड़ता है। महात्मा कबीरजी कहते हैं।

केशव केशव कूकिये, न कूकिये असार।
रात दिवसके कूकते, कभी तो सुनें पुकार॥
राम नाम रटते रहो, जबलग घटमें प्रान।
कबहुँ तो दीनदयालके, भनक परेगी कान॥

इसलिये संसारके समस्त विषयोंको विषके लड्डू समझते हुए उनसे मन हटाकर श्रीपरमात्माके पावन नामके जपमें लग जाना ही परम कर्तव्य है। जो परमात्माके नामका जप करता है दयालु परमात्मा उसे शीघ्र ही भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर न्यायकारी हैं, भजनेवालेके ही पापोंका नाश करके उसे परमगति प्रदान करते हैं तो फिर उन्हें दयालु क्यों कहना चाहिये ?

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। संसारके बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपने उपासकोंको बाह्य धनादि पदार्थ देकर सन्तुष्ट

करते हैं परन्तु भगवान् ऐसा नहीं करते, उनका तो यह नियम है कि उनको जो जिस भावसे भजता है उसको वे भी उसी भावसे भजते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

परमात्मा छोटे-बड़ेका कोई खयाल नहीं करते। एक छोटे-से-छोटा व्यक्ति परमात्माको जिस भावसे भजता है, उनके साथ जैसा बर्ताव करता है, वे भी उसको वैसे ही भजते और वैसा ही बर्ताव करते हैं। यदि कोई उनके लिये रोकर व्याकुल होता है तो वे भी उससे मिलनेके लिये उसी प्रकार अकुला उठते हैं। यह उनकी कितनी दयाकी बात है?

अतएव इस अनित्य, क्षणभंगुर, नाशवान् संसारके समस्त मिथ्या भोगोंको छोड़कर उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी शुद्ध परम दयालु सच्चे प्रेमी परमात्माके पावन नामका निष्काम प्रेमभावसे ध्यानसहित सदा-सर्वदा जप करते रहना चाहिये।

संसारके समस्त दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नाम-जप ही सर्वोपरि युक्तियुक्त साधन है!



भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं



हुत-से सज्जन मनमें शङ्का उत्पन्न कर इस प्रकारके प्रश्न किया करते हैं कि दो प्यारे मित्र जैसे आपसमें मिलते हैं क्या इसी प्रकार इस कलिकालमें भी भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन मिल सकते हैं ? यदि सम्भव है तो ऐसा कौन-सा उपाय है कि जिससे हम उस मनोमोहिनी मूर्त्तिका शीघ्र ही दर्शन कर सकें ? साथ ही यह भी जानना चाहते हैं, क्या वर्तमान कालमें ऐसा कोई पुरुष संसारमें है जिसको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान् मिले हों ?

वास्तवमें तो इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर वे ही महान् पुरुष दे सकते हैं जिनको भगवान्‌की उस मनोमोहिनी मूर्त्तिका साक्षात् दर्शन हुआ हो ।

यद्यपि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ तथापि परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे केवल अपने मनोविनोदार्थ तीनों प्रश्नोंके सम्बन्धमें क्रमशः कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ ।

(१) जिस तरह सत्ययुगादिमें ध्रुव, प्रह्लादादिको साक्षात् दर्शन होनेके प्रमाण मिलते हैं उसी तरह कलियुगमें भी सूरदास, तुलसीदासादि बहुत-से भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन होनेका इतिहास मिलता है । बल्कि विष्णुपुराणादिमें तो सत्ययुगादिकी अपेक्षा कलियुगमें भगवत्-दर्शन होना बड़ा ही सुगम बताया है । श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

'कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ॥'
(१२।३।१२)

'सत्ययुगमें निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञद्वारा यजन करनेसे और द्वापरमें पूजा (उपासना) करनेसे जो परम-गतिकी प्राप्ति होती है वही कलियुगमें केवल नाम-कीर्तनसे मिलती है।'

जैसे अरणीकी लकड़ियोंको मथनेसे अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार सच्चे हृदयकी प्रेमपूरित पुकारकी रगड़से अर्थात् उस भगवान्‌के प्रेममय नामोच्चारणकी गम्भीर ध्वनिके प्रभावसे भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं । महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगदर्शनमें कहा है—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ।'

'नामोच्चारसे इष्टदेव परमेश्वरके साक्षात् दर्शन होते हैं।'

जिस तरह सत्य-संकल्पवाला योगी जिस वस्तुके लिये संकल्प करता है वही वस्तु प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है । उसी तरह शुद्ध अन्तःकरणवाला भगवान्‌का सच्चा अनन्य प्रेमी भक्त जिस समय भगवान्‌के प्रेममें मग्न होकर भगवान्‌की जिस प्रेममयी मूर्तिके दर्शन करनेकी इच्छा करता है उस रूपमें ही भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं । गीता अ० ११ श्लोक ५४ में भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार

(चतुर्भुज) रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।

एक प्रेमी मनुष्यको यदि अपने दूसरे प्रेमीसे मिलनेकी उत्कट इच्छा हो जाती है और यह खबर यदि दूसरे प्रेमीको मालूम हो जाती है तो वह स्वयं बिना मिले नहीं रह सकता फिर भला यह कैसे सम्भव है कि जिसके समान प्रेमके रहस्यको कोई भी नहीं जानता वह प्रेममूर्त्ति परमेश्वर अपने प्रेमी भक्तसे बिना मिले रह सके ?

अतएव सिद्ध होता है कि वह प्रेममूर्त्ति परमेश्वर सब काल तथा सब देशमें सब मनुष्योंको भक्तिवश होकर अवश्य ही प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।

(२) भगवान्‌के मिलनेके बहुत-से उपायोंमेंसे सर्वोत्तम उपाय है 'सच्चा प्रेम' । उसीको शास्त्रकारोंने अव्यभिचारिणी भक्ति, भगवत्‌में अनुरक्ति, प्रेमा भक्ति और विशुद्ध भक्ति आदि नामोंसे कहा है ।

जब सत्संग, भजन, चिन्तन, निर्मलता, वैराग्य, उपरति, उत्कट इच्छा और परमेश्वर-विषयक व्याकुलता क्रमसे होती है तब भगवान्‌में सच्चा, विशुद्ध प्रेम होता है ।

शोक तो इस बातका है कि बहुत-से भाइयोंको तो भगवान्‌के अस्तित्वमें ही विश्वास नहीं है । कितने भाइयोंको यदि विश्वास है भी, तो वे क्षणभंगुर नाशवान् विषयोंके मिथ्या सुखमें लिप्त रहनेके कारण उस प्राणप्यारेके मिलनेके प्रभावको और महत्वको ही नहीं जानते ! यदि कोई कुछ सुन-सुनाकर तथा कुछ विश्वास करके उसके प्रभावको कुछ जान भी लेते हैं तो अल्प चेष्टासे ही सन्तुष्ट होकर

बैठ जाते हैं या थोड़े-से साधनोंमें ही निराश-से हो जाया करते हैं। द्रव्य-उपार्जनके बराबर भी परिश्रम नहीं करते।

बहुत-से भाई कहा करते हैं कि हमने बहुत चेष्टा की परन्तु प्राणप्यारे परमेश्वरके दर्शन नहीं हुए। उनसे यदि पूछा जाय कि क्या तुमने फाँसीके मामलेसे छूटनेकी तरह भी कभी संसारकी जन्म-मरण-रूपी फाँसीसे छूटनेकी चेष्टा की? घृणास्पद, निन्दनीय स्त्रीके प्रेममें वशीभूत होकर उसके मिलनेकी चेष्टाके समान भी कभी भगवान्‌से मिलनेकी चेष्टा की? यदि नहीं, तो फिर यह कहना, कि भगवान् नहीं मिलते, सर्वथा व्यर्थ है।

जो मनुष्य शर-शय्यापर शयन करते हुए पितामह भीष्मके सदृश भगवान्‌के ध्यानमें मस्त होते हैं, भगवान् भी उनके ध्यानमें उसी तरह मग्न हो जाते हैं। गीता अ० ४ श्लोक ११ में भी भगवान्‌ने कहा है —

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'हे अर्जुन! जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।

भगवान्‌के निरन्तर नामोच्चारके प्रभावसे जब क्षण-क्षणमें रोमाञ्च होने लगते हैं, तब उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश होकर उसको भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। विरह-वेदनासे अत्यन्त व्याकुल होनेके कारण नेत्रोंमें अश्रुधारा बहने लग जाती है तथा जब वह त्रैलोक्यके ऐश्वर्यको लात मारकर गोपियोंकी तरह पागल हुआ विचरता है और जलसे बाहर निकाली हुई मछलीके समान भगवान्‌के लिये तड़पने लगता है, उसी समय

आनन्दकन्द प्यारे श्यामसुन्दरकी मोहिनी मूर्त्तिका दर्शन होता है। यही है उस भगवान्से मिलनेका सच्चा उपाय।

यदि किसीको भी भगवान्के मिलनेकी सच्ची इच्छा हो तो उसे चाहिये कि वह रुक्मिणी, सीता और व्रजबालाओंकी तरह सच्चे प्रेम-पूरित हृदयसे भगवान्से मिलनेके लिये विलाप करे।

(३) यद्यपि प्रकटमें तो ऐसे पुरुष कलिकालमें नहीं दिखायी देते जिनको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के साक्षात् दर्शन हुए हों। तथापि सर्वथा न हों यह भी सम्भव नहीं है—क्योंकि प्रह्लाद आदिकी तरह हजारोंमेंसे कोई कारणविशेषसे ही किसी एककी लोक-प्रसिद्धि हो जाया करती है नहीं तो ऐसे लोग इस बातको विख्यात करनेके लिये अपना कोई प्रयोजन ही नहीं समझते।

यदि यह कहा जाय कि संसार-हितके लिये सबको यह जताना उचित है, सो ठीक है, परन्तु ऐसे श्रद्धालु श्रोता भी मिलने कठिन हैं। तथा बिना पात्रके विश्वास होना भी कठिन है। यदि बिना पात्रके कहना आरम्भ कर दिया जाय तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता और न कोई विश्वास ही करता है।

अतः हमें विश्वास करना चाहिये कि ऐसे पुरुष संसारमें अवश्य हैं—जिनको उपर्युक्त प्रकारसे दर्शन हुए हैं। परन्तु उनके न मिलनेमें हमारी अश्रद्धा ही हेतु है और न विश्वास करनेकी अपेक्षा विश्वास करना ही सबके लिये लाभदायक है, क्योंकि भगवान्से सच्चा प्रेम होनेमें तथा दो मित्रोंकी तरह भगवान्की मनोमोहिनी मूर्त्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमें विश्वास ही मूल कारण है।

प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय



नन्दमय भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन होनेके लिये सर्वोत्तम उपाय 'सच्चा प्रेम' है। वह प्रेम किस प्रकार होना चाहिये और कैसे प्रेमसे भगवान् प्रकट होकर प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं? इस विषयमें आपकी सेवामें कुछ निवेदन किया जाता है।

अनेक विघ्न उपस्थित होनेपर भी ध्रुवकी तरह भगवान्के ध्यानमें अचल रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भक्त प्रह्लादकी तरह राम-नामपर आनन्दपूर्वक सब प्रकारके कष्ट सहन करनेके लिये एवं तीक्ष्ण तलवारकी धारसे मस्तक कटानेके लिये सर्वदा प्रस्तुत रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीलक्ष्मणकी तरह कामिनी-काञ्चनको त्यागकर भगवान्के लिये वन गमन करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

ऋषिकुमार सुतीक्ष्णकी तरह प्रेमोन्मत्त होकर विचरनेसे भगवान् मिल सकते हैं।

श्रीरामके शुभागमनके समाचारसे सुतीक्ष्णकी कैसी विलक्षण स्थिति होती है इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें किया है। भगवान् शिवजी उमासे कहते हैं—

होइहि सफल आज मम लोचन।
देखि वदन-पङ्कज भव-मोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।
कहि न जाय सो दशा भवानी॥
दिशि अरु विदिशि पन्थ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करै गुण गाई॥
अविरल प्रेम भक्ति मुनि पाई।
प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥
अतिशय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रकटे हृदय हरण भव पीरा॥
मुनि मग माँझ अचल होइ वैसा।
पुलक शरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आये।
देखि दशा निज जन मन भाये॥
राम सुसहज सुभाव, सेवक दुख दारिद दलन।
मुनिसन कह प्रभु आव, उठ-उठ द्विज मम प्राण सम॥

श्रीहनुमान्‌जीकी तरह प्रेममें विह्वल होकर अति श्रद्धासे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

कुमार भरतकी तरह राम-दर्शनके लिये प्रेममें विह्वल होनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं। चौदह सालकी अवधि पूरी होने-

के समय प्रेममूर्ति भरतजीकी कैसी विलक्षण दशा थी, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बहुत अच्छा किया है ।

रहा एक दिन अवधि अधारा ।
समुझत मन दुख भयो अपारा ॥
कारण कवन नाथ नहिं आये ।
जानि कुटिल प्रभु मोहिं बिसराये ॥
अहह ! धन्य लक्ष्मण बड़भागी ।
राम पदारविन्द अनुरागी ॥
कपटी कुटिल मोंहि प्रभु चीन्हा ।
ताते नाथ साथ नहिं लीन्हा ॥
जो करनी समुझै प्रभु मोरी ।
नहिं निस्तार कल्प शत कोरी ॥
जन अवगुण प्रभु मान न काऊ ।
दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ ॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई ।
मिलिहहिं राम शकुन अस होई ॥
बीते अवधि रहे जो प्राना ।
को पापी जग मोहिं समाना ॥

राम विरह सागर महँ, भरत मगन मन होत ।
विप्ररूप धरि पवनसुत, आय गयो जिमि पोत ॥
बैठे देखि कुशासन, जटा मुकुट कृश गात ।
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जलजात ॥

हनुमान्‌के साथ वार्तालाप होनेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीसे भरत-मिलाप होनेके समयका वर्णन इस प्रकार है। शिवजी महाराज देवी पार्वतीसे कहते हैं—

राजीव लोचन स्रवत जल, तनु ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदय लगाय अनुजहिं, मिले प्रभु त्रिभुवन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहँ, जात नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु शृंगार तनु धरि, विमल वर सुषमा लही॥
पूँछत कृपानिधि कुशल भरतहिं, वचन बेगि न आवई।
सुनु शिवा सो सुख वचन, मनते भिन्न जान न पावई॥
अब कुशल कौशलनाथ, आरत जानि जन दर्शन दियो।
बूड़त विरह वारीश कृपानिधान, मोहि कर गहि लियो॥

मान-प्रतिष्ठाको त्यागकर श्रीअक्रूरजीकी तरह भगवान्‌के चरण-कमलोंसे चिह्नित रजमें लोटनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवांकुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसंभ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाऽश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यंघ्रिरजांस्यहो इति॥
देहं भृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३८। २५-२७)

जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपाल जन आदरपूर्वक मस्तकपर चढ़ाते हैं ऐसे पृथिवीके आभूषणरूप पद्म,

यव, अंकुशादि अपूर्व रेखाओंसे अंकित श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको गोकुलमें प्रवेश करते समय अक्रूरजीने देखा ।

उनको देखते ही आह्लादसे व्याकुलता बढ़ गयी, प्रेमसे शरीरमें रोमाञ्च हो आये, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगे । अहो ! यह प्रभुके चरणोंकी धूलि है ऐसे कहते हुए रथसे उतरकर अक्रूरजी वहाँ लोटने लगे ।

देहधारियोंका यही एक प्रयोजन है कि गुरुके उपदेशानुसार निर्दम्भ, निर्भय और विगतशोक होकर भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिका दर्शन और उनके गुणोंका श्रवणादि करके अक्रूरकी भाँति हरिकी भक्ति करें ।

गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगके अभिमानको त्यागनेवाले उद्धवकी तरह प्रेममें विह्वल होनेपर भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं ।

एक पलको प्रलयके समान बितानेवाली रुक्मिणीके सदृश श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये हार्दिक विलाप करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं ।

महात्माओंकी आज्ञामें तत्पर हुए राजा मयूरध्वजकी तरह मौका पड़नेपर अपने पुत्रका मस्तक चीरनेमें भी नहीं हिचकनेवाले प्रेमी भक्तको भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं ।

श्रीनरसी मेहताकी तरह लज्जा, मान, बड़ाई और भयको छोड़कर भगवान्‌के गुण-गानमें मग्न होकर विचरनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं ।

'बी० ए०' 'एम० ए०' 'आचार्य' आदि परीक्षाओंकी जगह भक्त प्रह्लादकी तरह नवधा भक्तिकी * सच्ची परीक्षा देनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं ।

भगवान् केवल दर्शन ही नहीं देते वरन् द्रौपदी, गजेन्द्र, शबरी, विदुरादिकी तरह प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुओंको वे स्वयं प्रकट होकर खा सकते हैं ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ । अतएव सबको चाहिये कि परम प्रेम और उत्कण्ठाके साथ भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल हो !



---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ५ । २३)

उपासनाका तत्त्व





शास्त्र और महात्माओंके अनुभवसे यह सिद्ध है कि साकार और निराकार दोनों प्रकारके उपासकोंको परमगति प्राप्त हो सकती है। साकारके उपासकको सगुण भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं, निराकारके उपासकको उसकी इच्छा न रहनेके कारण नहीं होते। साकार ईश्वरकी उपासना ईश्वरका प्रभाव समझकर की जानेसे सफलता शीघ्र होती है। साकार ईश्वरके प्रभाव समझनेका यही मतलब है कि साधक उस एक ईश्वरको ही सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् समझे। जिस शिव या विष्णुरूपकी वह उपासना करे, उसके लिये उसे यह न समझना चाहिये कि मेरा इष्टदेव ईश्वर केवल इस मूर्तिमें ही है और कहीं नहीं है। ईश्वरमें इस तरहकी परिमित बुद्धि एक तरहका तामस ज्ञान है। गीता अध्याय १८ श्लोक २२ में इसीकी निन्दा की गयी है। इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्ति-पूजा नहीं करनी चाहिये अथवा कोई भाई सरलभावसे तत्त्व न समझकर केवल मूर्तिमात्रमें ईश्वर समझकर ही उसकी उपासना न करें। किसी भी भाँति उपासनामें प्रवृत्त होना तो सर्वथा उपासना न करनेकी अपेक्षा उत्तम ही है, परन्तु यह ज्ञान अल्प होनेके कारण इससे की हुई उपासनाका फल बहुत देरसे होता है। अल्पज्ञानकी उपासनामें यदि हानि है तो केवल

यही है कि इसकी सफलतामें विलम्ब हो जाता है, क्योंकि इसमें उपासक उपास्य वस्तुका महत्व कम कर देता है।

कोई अग्निका उपासक यज्ञके लिये अग्नि प्रज्वलित करके यदि यह मान ले कि बस, यही इतनी ही दूरमें अग्नि है और कहीं नहीं है तो इससे वह अग्निका महत्व कम करता है, वह एक व्यापक वस्तुको छोटी-सी सीमामें बाँध देता है। इसके विपरीत जो उपासक यह समझता है कि अग्नि वास्तवमें सर्वत्र व्यापक है परन्तु अव्यक्त होनेके कारण सब जगह दीखता नहीं। प्रकट होनेपर ही दीखता है और चेष्टा करते ही वह प्रकट हो सकता है। यदि अभाव होता तो वह किसी भी जगह किसी भी वस्तुमें प्रकट कैसे होता? जैसे प्रज्वलित अग्नि हवनकुण्डमें दीखता है परन्तु है सर्वत्र। इसी प्रकार भगवान् भी निराकाररूपसे सर्वत्र समभावसे व्याप्त हैं, भक्तके प्रेमसे साकाररूपसे प्रत्यक्ष होते हैं। निराकार ही साकार है और साकार ही निराकार है। इस प्रकार समझना ही साकारका प्रभाव समझना है। असलमें ईश्वरके साथ अग्निकी तुलना नहीं दी जा सकती। यह तो एक दृष्टान्तमात्र है क्योंकि अग्नि परमात्माकी भाँति सर्वव्यापी नहीं है। एक स्थानमें पाँच वस्तुएँ सर्वव्यापी नहीं हो सकतीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि अपने-अपने रूपमें स्थित हैं। पृथ्वीका प्रधान गुण गन्ध है, अग्निका रूप है, सर्वव्यापी परमात्मा तो कारणका भी महाकारण है इसलिये वह सबमें स्थित है। कार्य कभी सर्वव्यापी नहीं होता, व्यापक कारण होता है। जगत्‌का कारण प्रकृति है

परन्तु परमात्मा तो उसका भी कारण होनेसे महाकारण है। प्रकृति जड़ होनेसे अपने जड़कार्यका कारण हो सकती है परन्तु वह चैतन्य परमात्माका कारण नहीं हो सकती। अतएव परमात्मा ही सबका महाकारण है, वही जड़-चेतन सबमें सदा पूर्णरूपसे स्थित है। सबके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता, वह नित्य अनादि है।

निराकार ब्रह्मका स्वरूप सत्, विज्ञान, अनन्त, आनन्दघन है। 'सत्' उसे कहते हैं, जिसका कभी अभाव या परिवर्तन न हो, जिसमें कभी कोई विकार न हो और जो सदा एकरस एकरूप रहे। 'विज्ञान' से बोध, चेतन, शुद्ध, ज्ञान समझना चाहिये। 'अनन्त' उसे कहते हैं, जिसकी कोई सीमा न हो, कोई माप-तौल न हो, जिसका कहीं आदि-अन्त न हो, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्-से-महान् हो, समस्त संसार जिसके एक अंशमें स्थित हो। 'आनन्दघन' से केवल आनन्द-ही-आनन्द समझना चाहिये, 'घन' का अर्थ यह है कि उसमें आनन्दके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुको किसी प्रकार भी अवकाश नहीं है, जैसे बर्फमें जल घन है इसी प्रकार परमात्मा आनन्दघन है। बर्फ तो साकार जड़ कठोर है परन्तु परमात्मा चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, निराकार है। इस प्रकारका निराकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है!

परमात्माकी आनन्दरूपताका वर्णन नहीं हो सकता, वह अनिर्वचनीय है। यदि आपको किसी समय किसी कारणसे महान् आनन्दकी प्राप्ति हुई हो तो उसे स्मरण कीजिये। उससे बड़ा

आनन्द वह है जो सच्चे मनसे किये हुए सत्सङ्ग, भजन या ध्यान-द्वारा उत्पन्न होता है, जिसका वर्णन गीताके अ० १८ श्लोक ३६, ३७ में है। इस सुखके सामने भोगसुख सूर्यके सामने खद्योतके सदृश भी नहीं है। परन्तु यह सुख भी उस परम आनन्दरूप ब्रह्मका एक अणुमात्र ही है क्योंकि ब्रह्मानन्दके अतिरिक्त अन्य आनन्द घन नहीं हैं, एक सीमामें हैं, उनमें दूसरोंको अवकाश है।

इसी आनन्दरूप परमात्माका सब विस्तार है। इस परमात्मामें संसार वैसे ही समाया हुआ है, जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब। वास्तवमें है नहीं, समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। दर्पण तो जड़ और कठोर है परन्तु वह परमात्मा परम सुखरूप होनेपर भी चेतन है तथा वह इस प्रकार घनरूपसे व्याप्त है कि उसकी किसीसे तुलना ही नहीं की जा सकती! उसकी घनता किसी पत्थर, शिला, बर्फ आदि-जैसी नहीं है, इनमें तो अन्य पदार्थोंके लिये गुंजाइश भी है परन्तु उसमें किसीके लिये कुछ भी गुंजाइश नहीं है। जैसे इस शरीरमें 'मैं' (आत्मा) इतना सूक्ष्म घन है कि उसके अन्दर दूसरेको कभी स्थान नहीं मिल सकता। शरीर, मन, बुद्धि आदिमें किसी दूसरेका प्रवेश हो सकता है परन्तु उस आत्मामें किसीका प्रवेश किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वह सर्वव्यापी निराकार परमात्मा भी घन है।

उसकी चेतनता भी विलक्षण है। इस शरीरमें जितनी वस्तुएँ हैं वह सब जड़ हैं, इनको जाननेवाला चेतन है। जो पदार्थ किसीके द्वारा जाना जाता है वह जड़ है, दृश्य है, वह

आत्माको नहीं जान सकता। हाथ-पैर आत्माको नहीं जानते, पर आत्मा उनको जानता है। वही सबको जानता है, ज्ञान ही उसका स्वरूप है, वह ज्ञान ही परमेश्वर है जो सब जगह है। ऐसी कोई जगह नहीं है जो उससे रहित हो, इसीसे श्रुति उसे कहती है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

वही ब्रह्म भक्तोंके प्रेमवश उनके उद्धारार्थ साकाररूपसे प्रकट होकर उन्हें दर्शन देते हैं। उनके साकार रूपोंका वर्णन मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है, क्योंकि वह अनन्त हैं। भक्त जिस रूपसे उन्हें देखना चाहता है वह उसी रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देते हैं। भगवान्‌का साकाररूप धारण करना भगवान्‌के अधीन नहीं, पर प्रेमी भक्तोंके अधीन है। अर्जुनने पहले विश्वरूप-दर्शनकी इच्छा प्रकट की, फिर चतुर्भुजकी और तदनन्तर द्विभुजकी, भक्तभावन भगवान् कृष्णने अर्जुनको उसकी इच्छानुसार थोड़ी ही देरमें तीनों रूपोंसे दर्शन दे दिये और उसे निराकारका भाव भी भली भाँति समझा दिया। इसी प्रकार जो भक्त परमात्माके जिस स्वरूपकी उपासना करता है उसको उसी रूपके दर्शन हो सकते हैं।

अतएव उपासनाके स्वरूप-परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, नृसिंह, देवी, गणेश आदि किसी भी रूपकी उपासना की जाय, सब उसीकी होती है। भजनमें कुछ भी बदलनेकी जरूरत नहीं है। बदलनेकी जरूरत है, यदि परमात्मामें अल्पबुद्धि हो तो उसकी। भक्तको

चाहिये वह अपने इष्टदेवकी उपासना करता हुआ सदा यह समझता रहे कि मैं जिस परमात्माकी उपासना करता हूँ वही परमेश्वर निराकाररूपसे चराचरमें व्यापक है, सर्वज्ञ है, सब कुछ उसीकी दृष्टिमें हो रहा है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन मेरा इष्टदेव परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये उनकी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारणकर अनेक लीला करता है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवाले पुरुषके लिये परमात्मा कभी अदृश्य नहीं होते और न वह कभी परमात्मासे अदृश्य होता है।

श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता, क्योंकि वह एकीभावसे मुझमें ही स्थित है।'

निराकार-साकारमें कोई अन्तर नहीं है, जो भगवान् निराकार हैं वही साकार बनते हैं।

भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा और सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' क्यों प्रकट होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर भी भगवान् ही देते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ७-८)

'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करने तथा धर्म-स्थापनके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

इस प्रकार अविनाशी निर्विकार परमात्मा जगत्के उद्धारके लिये भक्तोंके प्रेमवश अपनी इच्छासे आप अवतीर्ण होते हैं। वे प्रेममय हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया प्रेम और दयासे ओतप्रोत है। वे जिनका संहार करते हैं उनका भी उद्धार ही करते हैं। उनका संहार भी परम प्रेमका ही उपहार है परन्तु अज्ञ जगत् उनके दिव्य जन्म-कर्मोंकी लीलाका यथार्थ रहस्य न समझकर नाना प्रकारके सन्देह करता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीर त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह तो मुझे ही प्राप्त होता है ।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्व भूतोंके परम गति और परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं । अतएव उन परमेश्वरके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, यों समझकर जो पुरुष उनका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्ति-रहित होकर संसारमें बर्तता है वही वास्तवमें उनको तत्त्वसे जानता है । ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषको इस दुःखरूप संसारमें फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता ।

भगवान्के जन्म-कर्म कैसे दिव्य हैं, इस तत्त्वको जो समझ लेता है वही सच्चा भाग्यवान् पुरुष है ! उज्ज्वल, प्रकाशमय, विशुद्ध, अलौकिक आदि शब्द दिव्यके पर्यायवाची हैं । भगवान्के जन्म-कर्मोंमें ये सभी घटित होते हैं । उनके कर्म संसारमें विस्तृत होकर सबके हृदयोंपर असर करते हैं, कर्मोंकी कीर्ति ब्रह्माण्डभरमें छा जाती है, जो उनका स्मरण-कीर्तन करते हैं, उनका हृदय भी उज्ज्वल बन जाता है । इसलिये वे उज्ज्वल हैं । उनकी लीलाका जितना ही अधिक विस्तार होता है, उतना ही अन्धकारका नाश होता है । जहाँ सदा हरि-लीला-कथा होती है वहाँ ज्ञान-सूर्यका प्रकाश छा जाता है, पाप-तापरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसलिये वे प्रकाशमय हैं । उनके कर्मोंमें किसी

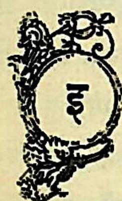
प्रकारका स्वार्थ या अपना प्रयोजन नहीं है, कोई कामना नहीं है, किसी पापका लेश नहीं है, मलरहित है, इसलिये वे शुद्ध हैं। उनके-जैसे कर्म जगत्में कोई नहीं कर सकता, ब्रह्मा-इन्द्रादि भी उनके कर्मोंको देखकर मोहित हो जाते हैं। जगत्के लोगोंकी कल्पनामें भी जो बात नहीं आ सकती, जो बिल्कुल असम्भव है, उसको भी वे सम्भव कर देते हैं, अघटन घटा देते हैं जीवन्मुक्त या कारक सबकी अपेक्षा अद्भुत हैं इसलिये वे अलौकिक हैं! उनका अवतार सर्वथा शुद्ध है। अपनी लीलासे ही आप प्रकट होते हैं। वे प्रेमरूप होकर ही सगुणरूपमें प्रकट होते हैं। प्रेम ही उनकी महिमामयी मूरति है, इसलिये प्रेमी पुरुष ही उनको पहचान सकते हैं। इस तत्त्वको समझकर जो प्रेमसे उनकी उपासना करते हैं वे भाग्यवान् बहुत ही शीघ्र उन प्रेममयके प्रेमपूर्ण वदनारविन्दका दर्शनकर कृतार्थ होते हैं! अतएव शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सब उनके चारु चरणोंमें अर्पण कर दिन-रात उन्हींके चिन्तनमें लगे रहना चाहिये। उनका प्रेमपूर्ण आदेश और आश्वासन स्मरण कीजिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२। ८)

मुझमें मन लगा दो, मुझमें ही बुद्धि लगा दो, ऐसा करनेपर मुझमें ही निवास करोगे अर्थात् मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है!

सच्चा सुख
और
उसकी प्राप्तिके उपाय

भौतिक सुखसे हानि



इस समय क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित प्रायः अधिकांश जनसमुदाय सांसारिक भोग-विलासको ही सच्चा सुख समझकर केवल भौतिक उन्नतिकी चेष्टामें ही प्रवृत्त हो रहा है, इस परम सत्यको लोग भूल गये हैं कि यह विषयेन्द्रिय-संयोग-जनित भौतिक सुख नाशवान्, क्षणिक और परिणाममें सर्वथा दुःखरूप है।

आजकल हमारे अनेक पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त विद्वान् देशबन्धु जो अपनेको बड़ा विचारशील, तर्कनिपुण और बुद्धिमान् समझते हैं, अंगरेजोंके सहवाससे तथा उनकी विलासप्रियता और जड़-इन्द्रिय-चरितार्थताको देखकर पाश्चात्य सभ्यताकी माया-मरीचिकापर मोहित हो रहे हैं और वेदशास्त्रकथित धर्मके सूक्ष्म तत्त्वको न समझकर प्राचीन आदर्श सभ्यताकी अवहेलना कर रहे हैं। उनके हृदयसे यह विश्वास प्रायः उठ गया है कि हमारे प्राचीन त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंकी विचारशीलता, तर्कपटुता और बुद्धिमत्ता हमलोगोंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी और उन्होंने हमारे उत्कर्षके लिये जो पथ

बतलाया है वही हमलोगोंके लिये सच्चे सुखकी प्राप्तिका यथार्थ मार्ग है। ऐसे विचार रखनेवाले बन्धुओंको समझाकर अपने प्राचीन आदर्शकी ओर आकर्षित करनेकी विशेष आवश्यकता है और इसीसे सबका मङ्गल है।

प्रिय बन्धुगण! विचार करनेपर आपको यह विदित हो जायगा कि पाश्चात्य सभ्यता वास्तवमें हमारे देश, धर्म, धन, सुख और हमारी जाति तथा आयुका विनाश करनेवाली है, इस सभ्यता-के संसर्गसे ही आज हमारा देश अपने चिरकालीन धर्म-पथसे विचलित होकर अधोगतिकी ओर जा रहा है। इसीसे आज हमारी धर्मप्राण जाति अनार्योचित कायरता और भोगपरायणताकी ओर अग्रसर होती हुई दिखायी दे रही है। इस प्रकार जो सभ्यता हमारे सांसारिक सुखोंका भी विनाश कर रही है उससे सच्चे सुखकी आशा करना तो विडम्बनामात्र है।

जातिका नाश होता है, अपने वेष-भाषा, खान-पान और आचारके त्याग देनेसे। जो जाति इन चारोंकी रक्षा करती हुई अपने आदर्शसे स्खलित नहीं होती उसका अस्तित्व नाश होना बड़ा कठिन होता है। अतएव हमें अपने प्राचीन ऋषि-मुनियोंद्वारा आचरित रहन-सहन, वेश-भूषा और स्वभाव-सभ्यताका ही अनुकरण करना चाहिये। स्वधर्मका त्याग करना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३।३५)

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना (भी) कल्याण-कारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

मुसलमानोंके शासनके समय जब हिन्दुओंने उनके रहन-सहन और स्वभाव-सभ्यताकी नकल करना आरम्भ किया, तभीसे हिन्दूजाति और हिन्दूधर्मका ह्रास होने लगा। देखते-देखते आठ करोड़ हिन्दू भाई मुसलमानोंके रूपमें बदल गये। जो लोग गो, ब्राह्मण और देव-मन्दिरोंके रक्षक थे, वे ही उलटे उन सबके शत्रु बन गये। यह सब मुसलमानी सभ्यताके और उनके आचार-विचारोंके अनु-करण करनेका ही दुष्परिणाम है।

इस समय अंगरेजोंका राज्य है। सब ओर अंगरेजी शिक्षाका प्रचार हो रहा है। अंगरेजोंका संसर्ग दिनोंदिन बढ़ रहा है। इसी कारण हमारी जातिमें आज अंगरेजी वेश-भाषा, खान-पान और आचार-विचारोंका बड़े जोरके साथ विस्तार हो रहा है। इसीके साथ-साथ हिन्दूधर्म और हिन्दूजातिका ह्रास तथा ईसाई-धर्मकी वृद्धि भी हो रही है। यह दुर्दशा हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। दूसरोंके अनुकरणमें अपने जातीय भावोंको छोड़नेका यही परिणाम हुआ करता है।

अतएव सबको यह बात निश्चितरूपसे समझ लेनी चाहिये कि पाश्चात्य सभ्यता और उसका अनुकरण हमारे लिये किसी प्रकार भी हितकर नहीं है। इससे हमारे धर्ममय भावोंका विनाश होता है और हमें केवल भौतिक उन्नतिके पीछे भटककर सच्चे लाभसे वञ्चित रहनेको बाध्य होना पड़ता है।

सच्चा सुख

विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ सकता है कि मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिसे कोई अत्यन्त ही उत्तम लाभ होना चाहिये। खाना, पीना, सोना, मैथुन करना आदि सांसारिक भोगजनित सुख तो पशु-कीटादितक नीच योनियोंमें भी मिल सकते हैं। यदि मनुष्य-जीवनकी आयु भी इसी सुखकी प्राप्तिमें चली गयी तो मनुष्य-जन्म पाकर हमने क्या किया ? मनुष्य-जन्मका परम ध्येय तो उस अनुपमेय और सच्चे सुखको प्राप्त करना है, जिसके समान कोई दूसरा सुख है ही नहीं। वह सुख है 'श्रीपरमात्माकी प्राप्ति।'

साधनमें क्यों नहीं लगते ?

इतना होनेपर भी अधिकांश लोग केवल धन, स्त्री और पुत्रादि विषयजन्य सुखको ही परमसुख मानकर उसीमें मोहित रहते हैं। असली सुखके लिये यत्न करनेवाले कर्तव्यपरायण पुरुष तो कोई बिरले ही निकलते हैं।

श्रीभगवान्ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।'

भगवान्‌के कथनानुसार आजकल भी जो कुछ थोड़े-बहुत सज्जन इस सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, उनमेंसे भी बिरले ही आखिरी मंजिलतक पहुँचते हैं। अधिकांश साधक तो थोड़ा-सा साधन करके ही रुक जाते हैं। वे अपनेको अधिक उन्नत स्थितिमें नहीं ले जा सकते। मेरी समझसे इसमें निम्न-लिखित कारण हो सकते हैं—

(१) संसारमें इस सिद्धान्तके सुयोग्य प्रचारक कम हैं। क्योंकि इसके प्रचारक त्यागी, विद्वान्, सदाचारी, परिश्रमी और सच्चे महापुरुष ही हो सकते हैं।

(२) साधकगण थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य समझकर अधिक साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते।

(३) कुछ साधक थोड़ा-सा साधन करके उकता जाते हैं। इस साधनसे अपनी विशेष उन्नति नहीं समझकर वे 'किंकर्तव्यविमूढ़' हो जाते हैं।

(४) सच्चे सुखमें लोगोंकी श्रद्धा ही बहुत कम होती है, कारण विषय-सुखोंकी भाँति इसके साधनमें पहले ही सुख नहीं दीखता। इसीसे तत्परताका अभाव रहता है।

(५) कुछ लोग इस सुखको सम्पादन करना अपनी शक्तिसे बाहरकी बात समझते हैं, इसलिये निराश हो रहते हैं।

इसके सिवाय और भी कई कारण बतलाये जा सकते हैं परन्तु इन सबमें सच्चा कारण केवल अज्ञानता और अकर्मण्यता ही है। अतएव मनुष्यको सावधान होकर उत्साहके साथ कर्तव्यपरायण रहना चाहिये।

सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय।

श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

(कठ० व० ३ । १४)

'उठो, (साधनके लिये प्रयत्नशील होओ) अज्ञान-निद्रासे जागो एवं श्रेष्ठ विद्वान् जिस मार्गको क्षुरकी तेज धारके समान दुर्लंघ्य, दुर्गम बताते हैं, उसको महापुरुषोंके पास जाकर समझो!'

अतएव इस भगवत्-साक्षात्कारतारूप परम कल्याण और परम सुखकी प्राप्तिके साधनमें किञ्चित् भी विलम्ब नहीं करना चाहिये। यही मनुष्य-जन्मका परम कर्तव्य है, यही सबसे बड़ा और सच्चा सुख है। इसी सुखकी महिमा बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

(गीता ६ । २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है।'

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(गीता ६ । २२)

'और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और भगवत्-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है।'

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(गीता ६।२३)

'और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

यद्यपि इस सच्चे सुखकी प्राप्तिका उपाय कुछ कठिन है परन्तु असाध्य नहीं है। श्रीपरमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे तो कठिन होनेपर भी वह सर्वथा सरल, सुखसाध्य और अत्यन्त सहज हो जाता है। श्रीगीताजीमें भगवान् स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९।३२-३३)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, (और) शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त

होते हैं। फिर क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन (परमगतिको) प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

अतएव साधकको चाहिये कि वह परमात्मापर दृढ़ विश्वास करके उसकी शरण ग्रहणकर अपनी उन्नतिके प्रतिबन्धक कारणोंको निम्नलिखित उपायोंसे दूर करनेकी चेष्टा करे।

(१) साधककी धारणामें उसे संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनकी आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लग जाय। उनके वचनोंमें पूर्ण विश्वास रक्खे, उनके समीप जाकर फिर 'किंकर्तव्यविमूढ़' न रहे, अपनी बुद्धिको प्रधानता न दे, उसका बतलाया हुआ साधन यदि ठीक समझमें न आवे तो नम्रतापूर्वक पूछकर अपना समाधान कर ले और साधनमें लगनेपर भी यदि कुछ समयतक प्रत्यक्ष सुखकी प्रतीति न हो तो भी परिणाममें होनेवाले परम हितपर विश्वास करके उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कदापि विमुख न हो। श्रीभगवान्ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

(२) साधकको यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि मुझे यह साधन किसी दिन छोड़ देना है। उसको यही समझना चाहिये कि यह साधन ही मेरा परम धन, परम कर्तव्य परम अमृत, परम सुख और मेरे प्राणोंका परम आधार है। जो लोग यह समझते हैं कि परमात्माका ज्ञान होनेके बाद हमें साधनकी क्या आवश्यकता है, वे भूल करते हैं। जिस साधनद्वारा अन्तःकरणको परम शान्ति प्राप्त हुई है, भला, वह उसे क्योंकर छोड़ सकता है ? परमात्माकी प्राप्ति होनेके पश्चात् उस महापुरुषकी स्थिति देखकर तो दुराचारी मनुष्योंकी भी साधनमें प्रवृत्ति हो जाया करती है, जिन्हें देखकर साधनहीन जन भी साधनमें लग जाते हैं, उनकी अपनी तो बात ही कौन-सी है ? इतना होनेपर भी जो पुरुष थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं, वे बड़ी भूलमें रहते हैं। इस भूलसे साधनमें बड़ा विघ्न होता है। यही भूल साधकका अधःपतन करनेवाली होती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

(३) साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये, कि कर्तव्यपरायण, भगवत्-शरणागत पुरुषके लिये कोई भी कार्य दुःसाध्य नहीं है। वह बड़े-से-बड़ा काम भी सहजहीमें कर सकता है। यह शक्ति वास्तवमें प्रत्येक मनुष्यमें है। अपनी शक्तिका अभाव मानना मानों अपने आपको नीचे गिराना है। उत्साही पुरुषके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य हो जाता है।

(४) प्रत्येक साधकको अपनी परीक्षा अपने आप करते रहना चाहिये। सूक्ष्मदृष्टिसे विचारकर देखनेपर अपने छिपे हुए दोष भी प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं। साधकको देखना चाहिये कि मेरा मन अपने अधीन शुद्ध, एकाग्र और विषयोंसे विरक्त हुआ या नहीं। कारण, जबतक मन और इन्द्रियोंपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता तबतक परमात्माकी प्राप्ति बहुत दूर है। भगवान् कहते हैं कि—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(गीता ६। ३६)

'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है।'

अतएव साधकको सबसे पहले मनको अपने अधीन, शुद्ध और एकाग्र बनाना चाहिये *। इसके लिये शास्त्रोंमें प्रधानतः दो उपाय बतलाये गये हैं।

(१) अभ्यास और (२) वैराग्य।

श्रीभगवान्ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६। ३५)

---

* 'मनको वशमें करनेके उपाय' नामक पुस्तकमें मनको रोकनेके बहुत-से उपाय बतलाये हैं।

'हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे (यह) वशमें होता है ।'

इसी प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

(योग० १ । १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे उन (चित्तवृत्तियों)का निरोध होता है ।'

अभ्यास और वैराग्यकी विस्तृत व्याख्या तो यथाक्रम उक्त ग्रन्थोंमें ही देखनी चाहिये परन्तु भगवान्‌ने अभ्यासका स्वरूप मुख्यतया इस प्रकार बतलाया है ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

(गीता ६ । २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस कारण-से सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है उस-उससे रोककर (बारम्बार) परमात्मामें ही निरोध करे ।'

वैराग्यके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी

निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्यसे मनको शुद्ध, अपने अधीन, एकाग्र और वैराग्य-सम्पन्न बनाकर भगवान्के स्वरूपमें निरन्तर अचल-स्थिर कर देनेके लिये ध्यानका साधन करना चाहिये।

जैसे श्रीभगवान्ने कहा है—

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमें करके क्रम-क्रमसे (अभ्यास करता हुआ) उपरामताको प्राप्त होवे (तथा) धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

अभ्यास और वैराग्यके प्रभावसे मनके शुद्ध, स्वाधीन, एकाग्र और विरक्त हो जानेपर तो उसे परमात्माके चिन्तनमें लगाना परम सुगम हो ही जाता है परन्तु उक्त दोनों उपायोंको पूर्णतया काममें न ला करके भी यदि मनुष्य केवल परमात्माकी शरण ग्रहणकर

उसके नाम-जप और स्वरूप-चिन्तनमें तत्पर हो जाय तो इस प्रकारके ध्यानसे ही सब कुछ हो सकता है। साधकका मन शीघ्र ही शुद्ध, एकाग्र और उसके अधीन हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

महर्षि पतञ्जलिने भी शीघ्रातिशीघ्र समाधि लगनेका उपाय बतलाते हुए कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'

(योगद० १।२३)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य तो मनके निरोध करनेके उपाय हैं ही, जो साधक इन उपायोंको जितना अधिक काममें लाता है, उतना ही शीघ्र उसका मन निरुद्ध होता है। परन्तु ईश्वर-प्रणिधान-से भी मन बहुत ही शीघ्र समाधिस्थ हो सकता है।

इससे यह माना जा सकता है कि जप, तप, व्रत, दान, लोक-सेवा, सत्सङ्ग और शास्त्रोंका मनन आदि समस्त साधन इसी ध्यानके लिये ही बतलाये और किये जाते हैं।

अतएव सच्चे सुखकी प्राप्तिका साक्षात्, सरल और सबसे सुलभ उपाय परमात्माके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही है। इसीको शास्त्रकारोंने ध्यान, स्मरण और निदिध्यासन आदि नामों-से कहा है। कर्मयोग और सांख्ययोग आदि सभी साधनोंमें परमात्माका ध्यान प्रधान है।

साधन-कालमें अधिकारी-भेदसे ध्यानके साधनोंमें भी अनेक भेद होते हैं। सभी मनुष्योंकी रुचि एक प्रकारके साधनमें नहीं

हुआ करती। एक ही गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके लिये अनेक मार्ग हुआ करते हैं। इसी प्रकार फलरूपमें एक ही परम वस्तुकी प्राप्ति होनेपर भी साधनके प्रकारोंमें अन्तर रहता है। कोई एकत्वभावसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके निराकाररूपका ध्यान करते हैं तो कोई स्वामी-सेवक-भावसे सर्वव्यापी परमेश्वरका चिन्तन करते हैं। कोई भगवान् विश्वरूपका तो कोई चतुर्भुज श्रीविष्णुरूपका, कोई मुरली-मनोहर श्रीकृष्णरूपका तो कोई मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामरूपका और कोई कल्याणमय श्रीशिवरूपका ही ध्यान करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

(गीता ९। १५)

अतएव जिस साधककी परमात्माके जिस रूपमें अधिक प्रीति और श्रद्धा हो, वह निरन्तर उसीका चिन्तन किया करे। परिणाम सबका एक ही है, परिणामके सम्बन्धमें किञ्चित् भी संशय रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

साधकोंकी प्रायः दो श्रेणियाँ होती हैं। एक अभेदरूपसे अर्थात् एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवालोंकी और दूसरी स्वामी-सेवक-भावसे भक्ति करनेवालोंकी। इनमेंसे अभेदरूपसे उपासना करनेवालोंके लिये तो केवल एक शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर एकत्व-भावसे स्थित रहना ध्यानका सर्वोत्तम साधन है। परन्तु दूसरे, स्वामी-सेवक-भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंके लिये शास्त्रोंमें ध्यानके बहुत प्रकार बतलाये गये हैं।

ध्यान करनेकी पद्धति नहीं जाननेके कारण ध्यान ठीक नहीं होता, साधक चाहता तो है परमात्माका ध्यान करना, परन्तु उसके ध्यान होता है जगत्‌का। यह शिकायत प्रायः देखी और सुनी जाती है। इसलिये परमात्मामें मन जोड़नेकी जो विधियाँ हैं, उन्हें जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। शास्त्रकारोंने अनेक प्रकारसे ध्यानकी विधियोंके बतलानेकी चेष्टा की है। उनमेंसे कुछ दिग्दर्शन यहाँ संक्षेपमें करवाया जाता है।

यों तो परमात्माका चिन्तन निरन्तर उठते, बैठते, चलते, खाते, पीते, सोते, बोलते और सब तरहके काम करते हुए हर समय ही करना चाहिये परन्तु साधक खास तौरपर जब ध्यानके निमित्तसे बैठे, उस समय तो गौणरूपसे भी उसे अपने अन्तःकरण-में सांसारिक सङ्कल्पोंको नहीं उठने देना चाहिये तथा एकान्त और शुद्ध देशमें बैठकर ध्यानका साधन आरम्भ कर देना चाहिये। श्रीगीताजीमें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
(६। ११-१२)

'शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपरोपरि जिसके, ऐसे अपने आसनको न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र

करके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किये हुए अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
(गीता ६ । १३)

'काया, शिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखकर* अन्य दिशाओंको न देखता हुआ परमेश्वरका ध्यान करे ।'

ध्यान करनेवाले साधकको यह बात विशेषरूपसे जान रखनी चाहिये कि जबतक अपने शरीरका और संसारका ज्ञान रहे तबतक ध्यानके साथ नाम-जपका अभ्यास अवश्य करता रहे । नाम-जपका सहारा नहीं रहनेपर बहुत समयतक नामीके स्वरूपमें मन नहीं ठहरता । निद्रा, आलस्य और अन्यान्य सांसारिक स्फुरणाएँ विघ्नरूपसे आकर मनको घेर लेती हैं । नामीको याद दिलानेका प्रधान आधार नाम ही है । नाम नामीके रूपको कभी भूलने नहीं देता । नामसे ध्यानमें पूर्ण सहायता मिलती है । अतएव ध्यान करते समय जबतक ध्येयमें सम्पूर्णरूपसे तल्लीनता न हो जाय, तबतक नाम-जप कभी नहीं छोड़ना चाहिये । यह तो ध्यानके सम्बन्धमें साधारण बातें हुईं । अब ध्यानकी कुछ विधियाँ लिखी जाती हैं ।

---

* इसमें दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखनेके लिये कहा गया है परन्तु जिन लोगोंको आँखें बन्द करके ध्यान करनेका अभ्यास हो, वे आँखें बन्द करके भी कर सकते हैं, इसमें कोई हानि नहीं है ।

अभेदोपासनाके अनुसार ध्यानकी विधि ।

एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवाले साधकको चाहिये कि वह उपर्युक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर मनमें रहनेवाले सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग करके इस प्रकार भावना करे ।

(१) एक आनन्दघन ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है । उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उस ब्रह्मका ज्ञान भी उस ब्रह्मको ही है । वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता । इसीलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं, वह सीमारहित, अपार और अनन्त है । मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो कुछ भी है वह सभी उस ब्रह्ममें आरोपित और ब्रह्मस्वरूप ही है । वास्तवमें एक पूर्ण ब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है । यह सम्पूर्ण संसार स्वप्नके सदृश उस परमात्मामें कल्पित है ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

'ब्रह्म सत्य, चेतन और अनन्त है, इस श्रुतिके अनुसार वह आनन्दघन, सत्यस्वरूप, बोधस्वरूप परमात्मा है, 'बोध' उससे भिन्न कोई उसका गुण या उसकी कोई उपाधि या शक्ति-विशेष नहीं है । इसी प्रकार 'सत्' भी उससे कोई भिन्न गुण नहीं है । वह सदासे है और सदा ही रहता है, इसलिये लोक और वेदमें उसे 'सत्' कहते हैं, वास्तवमें तो वह परमात्मा सत् और असत् दोनोंसे परे है । 'न सत्तन्नासदुच्यते ।'

(गीता १३ । १२)

इस प्रकार अन्तःकरणमें ब्रह्मके अचिन्त्य स्वरूपकी दृढ़ भावना करके जपके स्थानमें बारम्बार निम्नलिखित प्रकारसे परमात्माके विशेषणोंकी मन-ही-मन भावना और उनका उच्चारण करता रहे। वास्तवमें ब्रह्म नाम-रूपसे परे है परन्तु उसके आनन्द-स्वरूपकी स्फूर्तिके लिये इन विशेषणोंकी कल्पना है। अतएव साधक चित्तकी समस्त वृत्तियोंको आनन्दरूप ब्रह्ममें तल्लीन करता हुआ 'पूर्ण-आनन्द' 'अपार आनन्द' 'शान्त आनन्द' 'घन-आनन्द' 'बोधस्वरूप-आनन्द' 'ज्ञानस्वरूप-आनन्द' 'परम आनन्द' 'नित्य-आनन्द' 'सत्-आनन्द' 'चेतन-आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' 'एक आनन्द-ही-आनन्द' इस प्रकार ब्रह्मके विशेषणोंका चिन्तन करता हुआ इस भावनाको उत्तरोत्तर दृढ़ करता रहे कि एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नहीं है। इसके साथ ही वह अपने मनको बड़ी तेजीसे उस आनन्दमय ब्रह्ममें तन्मय करता हुआ उन सम्पूर्ण विशेषणोंको उस आनन्दमय परमात्मासे अभिन्न समझता रहे। इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त सङ्कल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका सङ्कल्प मनमें नहीं रहता है तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चलताके साथ होती है। इस प्रकारसे ध्यानका नित्य-नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता

है। फिर साधक, साधना और साध्य सभी अभिन्न, सभी एक आनन्दस्वरूप हो जाते हैं, फिर उसकी वह स्थिति सदाके लिये वैसी ही बनी रहती है। चलते-फिरते, उठते-बैठते तथा अन्य सम्पूर्ण कार्योंके यथाविधि और यथासमय होते हुए भी उसकी स्थितिमें किञ्चित् भी अन्तर नहीं पड़ता। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष, एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

वास्तवमें वह किसी भी समय संसारको या अपनेको ब्रह्मसे अलग नहीं देखता! इसीलिये उसका पुनः कभी जन्म नहीं होता। वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है। गीतामें कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५। १७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी (तथा) तद्रूप है मन जिनका (और) उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।' यही उपर्युक्त ध्यानका फल है।

अभेदोपासनाके ध्यानकी दूसरी युक्ति।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥
(कठ० व० ३। १३)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह वाणी आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंका मनमें निरोध करे, मनका बुद्धिमें निरोध करे, बुद्धिका महत्तत्त्वमें अर्थात् समष्टि-बुद्धिमें निरोध करे और उस समष्टि-बुद्धिका निरोध शान्तात्मा परमात्मामें करे।'

एकान्त स्थानमें बैठकर दशों इन्द्रियोंके विषयोंको उनके द्वारा ग्रहण न करना अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारको रोककर मनके द्वारा केवल परमात्माके स्वरूपका बारम्बार मनन करते रहना ही 'वाणी आदि इन्द्रियोंका मनमें निरोध' करना है। इसके बाद मनन किये हुए परमात्माके स्वरूपके विषयमें जितने भी विकल्प हैं, उन सबको छोड़कर एक निश्चयपर स्थित होकर चित्तका शान्त हो जाना याने अन्तःकरणमें किसी भी चञ्चलात्मक वृत्तिका किञ्चित् भी अस्तित्व न रहकर एकमात्र विज्ञानका प्रकाशित हो जाना 'मनका बुद्धिमें निरोध' करना है। ध्यानकी इस प्रकारकी स्थितिमें ध्याता-को अपना और ध्येय वस्तु परमात्माका बोध रहता है परन्तु इसके बाद जब उस सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके स्वरूपका निश्चय करनेवाली बुद्धि-वृत्तिकी स्वतन्त्र सत्ता भी समष्टिज्ञानमें तन्मय हो जाती है, जब ध्याता, ध्यान और ध्येयका समस्त भेद मिटकर केवल एक ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपका ही

बोध रह जाता है। इसी अवस्थाको 'बुद्धिका समष्टि-बुद्धिमें निरोध' करना कहते हैं।

इसके अनन्तर एक और अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका भिन्न संस्कारमात्र भी शेष नहीं रहता। केवल एक शुद्ध, बोधस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है, उसके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता किसी प्रकारसे भी नहीं रहती। इसीका नाम समष्टि-बुद्धिका शान्तात्मामें निरोध करना है।

इसीको निर्बीज समाधि, शुद्धब्रह्मकी प्राप्ति या कैवल्य-पदकी प्राप्ति कहते हैं। यही अन्तिम स्थिति है। वाणी इस अवस्थाका वर्णन नहीं कर सकती, मन इसका मनन नहीं कर सकता। क्योंकि यह मन, वाणी और बुद्धिके परेका विषय है, यही मोक्ष है।

इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता।

श्रीगीताजीमें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(३। १७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट होवे, उसके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।'

अभेदोपासनाके अनुसार परमात्माका ध्यान करनेके और भी बहुत-से प्रकार हैं परन्तु लेखका आकार बढ़ जानेके कारण और नहीं लिखे जाते हैं। सबका आशय प्रायः एक ही है। एकत्वभावसे

उपासना करनेवालेके लिये श्रीगीताजीके इस श्लोकको निरन्तर स्मरण रखना अत्यन्त लाभप्रद है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(१३।१५)

'(वह परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर तथा भीतर परिपूर्ण है, चर-अचररूप भी (वही) है, वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय* है तथा अति समीपमें † और दूरमें ‡ भी वही स्थित है।'

अतएव जिनको अभेदोपासनामें रुचि हो, उन साधकोंको उपर्युक्त प्रकारके साधनमें शीघ्र ही तत्पर होना चाहिये।

विश्वरूप परमात्माके ध्यानकी विधि।

एकान्त स्थानमें आँखें बन्द करके बैठनेपर भी यदि इस मायामय संसारकी कल्पना साधकके हृदयसे दूर न हो तो उसे इस प्रकारकी भावना करनी चाहियेः—

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकोंमें जो कुछ भी देखने, सुनने और मनन करनेमें आता है सो सब साक्षात्

---

* जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता।

† वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है।

‡ श्रद्धारहित अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है।

श्रीपरमात्माका ही स्वरूप है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी मायाशक्तिसे विश्वरूपमें प्रकट हुए हैं। जैसे श्रीगीताजीमें कहा है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
(१३।१३)

'वह सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओरसे नेत्र, सिर और मुख-वाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है। क्योंकि वह सब संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'*

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ। इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
(१०।३९)

'हे अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं ही हूँ क्योंकि ऐसा वह चर-अचर कोई भी भूत नहीं है कि जो मुझसे रहित हो, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।'

---

* आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है वैसे ही परमात्मा भी सबका कारण-रूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है।

इस प्रकार बारम्बार मनन करके सम्पूर्ण संसारको तत्त्वसे श्रीपरमात्माका स्वरूप समझकर परमात्माके निश्चित रूपमें मनको निश्चल करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनकी चञ्चलताका सहजमें ही नाश हो जाता है। फिर मन जहाँ जाता है वहीं उसे वह परमात्मा दीखता है। एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं भासता। जैसे जलसे बने हुए अनेक प्रकारके बर्फके खिलौनों-को जो तत्त्वसे जलस्वरूप समझ लेता है उसे फिर उनके जल होनेमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता, उसे सभी खिलौने प्रत्यक्ष जलस्वरूप दीखने लगते हैं। इसी तरह उपर्युक्त प्रकारसे परमात्मा-का ध्यान करनेवाले साधकको भी सम्पूर्ण विश्व परमात्मस्वरूप दीखने लगता है। उसकी भावनामें जगत्‌रूप किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता, मन शान्त और संशयरहित हो जाता है। चञ्चल चित्तको परमात्मामें लगानेका यह भी एक सहज उपाय है।

श्रीविष्णुके चतुर्भुज रूपका ध्यान करनेकी विधि।

एकान्त स्थानमें पूर्वोक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर आँखें मूँद ले और आनन्दमें मग्न होकर अपने उस परमप्रेमीके मिलनकी तीव्र लालसासे ध्यानका साधन आरम्भ करे।

मन्दिरोंमें भगवान्‌की मूर्त्तिका दर्शनकर, भगवान्‌के चित्रोंका अवलोकनकर, सन्त-महात्माओंके द्वारा सुनकर या सौभाग्यवश स्वप्नमें प्रभुके दर्शनकर भगवान्‌के जैसे साकार रूपको बुद्धि मानती हो, यानी भगवान्‌का साकार रूप साधकके समझमें जैसा आया हो, उसीकी भावना करके ध्यान करना चाहिये। साधारणतः भगवान्-की मूर्तिके ध्यानकी भावना इस प्रकार की जा सकती है।

(१) भूमिसे करीब सवा हाथकी उँचाईपर आकाशमें अपने सामने ही भगवान् विराजमान हैं। भगवान्‌के अतिशय सुन्दर चरणारविन्द नीलमणिके ढेरके समान चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं। चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ हैं और उनपर स्वर्णके रत्नजड़ित नूपुर शोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के जैसे चरणकमल हैं वैसे ही उनके जानु और जङ्घा आदि अंग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके अन्दरसे चमक रहे हैं। अहो! अत्यन्त सुन्दर चार लम्बी-लम्बी भुजाएँ शोभा दे रही हैं। ऊपरकी दोनों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र और नीचेकी दोनों भुजाओंमें गदा और पद्म विराजमान हैं। चारों भुजाओंमें केयूर और कड़े आदि एक-से-एक सुन्दर आभूषण सुशोभित हैं। अहो! अत्यन्त विशाल और परम सुन्दर भगवान्‌का वक्षःस्थल है जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताका चिह्न अंकित हो रहा है। नीलकमल-के समान सुन्दर वर्णवाली भगवान्‌की ग्रीवा अत्यन्त सुन्दर है और वह रत्नजड़ित हार, कौस्तुभमणि तथा अनेक प्रकारके मोतियोंकी, स्वर्ण-की भाँति-भाँतिके सुन्दर दिव्य गन्ध-पुष्पोंकी और वैजयन्ती मालाओं-से सुशोभित हैं। सुन्दर चिबुक (ठुड्डी), लाल-लाल ओष्ठ और मनोहर नुकीली नासिका है। जिसके अग्रभागमें दिव्य मोती लटक रहा है। भगवान्‌के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके सदृश खिले हुए हैं। कानोंमें रत्नमण्डित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारण तिलक तथा शीशपर मनोहर मणिमुक्तामय किरीट-मुकुट शोभायमान हो रहा है। अहो! भगवान्‌का अतुलनीय मनोहर मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रकी गोलाई-

को लजाता हुआ मनको हरण कर रहा है। मुखमण्डलके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणें देदीप्यमान हैं, जिनके प्रकाशसे भगवान्‌के मुकुटादि सम्पूर्ण आभूषणोंके रत्न सहस्र गुण अधिक चमक रहे हैं। अहो! आज मैं धन्य हूँ! धन्य हूँ! जो मन्द-मन्द हँसते हुए परमानन्द-मूर्ति हरि भगवान्‌का ध्यान कर रहा हूँ।

इस प्रकार भावना करते-करते जब भगवान्‌का स्वरूप भली-भाँति स्थित हो जाय, तब प्रेममें विह्वल होकर साधकको भगवान्‌के उस मनमोहन स्वरूपमें चित्तको स्थिर कर देना चाहिये। ध्यानका अभ्यास करते-करते जब साधकको अपना और संसारका एवं ध्यानका भी ज्ञान नहीं रहता, केवल एक मनमोहन भगवान्‌का ही ज्ञान रह जाता है तब साधककी भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि हो जाती है। ऐसा होनेपर साधक तत्काल ही भगवान्‌के वास्तविक तत्त्वको जान जाता है और तब भगवान् उसके प्रेमवश हो साक्षात् साकाररूपमें प्रकट होकर उसे अपने दर्शनसे कृतार्थ करनेको बाध्य होते हैं!

श्रीभगवान्‌ने कहा भी है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज स्वरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इस प्रकार भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद वह भक्त कृतकृत्य हो जाता है। उसके सम्पूर्ण अवगुण नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्ण महात्मा बन जाता है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता!

श्रीगीताजीमें कहा है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(८।१५)

'परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखके स्थानरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

दूसरी विधि

(२) अपने हृदयाकाशमें शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए श्रीविष्णु भगवान्‌का चिन्तन करते-करते निम्नलिखित रूपसे मन-ही-मन उनके स्वरूप और गुणोंकी भावना करते हुए उन्हें बारम्बार नमस्कार करना चाहिये।

जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषजीकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनके नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका मनोहर नील वर्ण है, अत्यन्त सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-

मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र भगवान् विष्णुको मैं अवनत-मस्तक होकर प्रणाम करता हूँ ।*

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओं-के समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वीतलोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जिनमें गम्भीरता है, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं दे सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवलमात्र कल्पना ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे उस अनुपमेय श्रीहरि भगवान्को मेरा वारम्बार नमस्कार है ।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णु भगवान् मन्द-मन्द मुसकुरा रहे हैं, जिनके समस्त अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई परम शोभा दे रही हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्को

---

* बन्दौं विष्णु विश्वाधार !

लोकपति, सुरपति, रमापति, सुभग-शान्ताकार ।
कमल-लोचन, कलुष-हर, कल्याण-पद-दातार ॥
नील-नीरदवर्ण, नीरज-नाभ, नभ अनुहार ।
भृगुलता-कौस्तुभ-सुशोभित-हृदय-मुक्ताहार ॥
शङ्ख-चक्र-गदा-कमल-युत भुज विभूषित चार ।
पीतपट राजत मनोहर, अङ्ग अङ्ग उदार ॥
शेष-शय्या-शयति योगी-ध्यान-गम्य अपार ।
हरण भव-भय दुःखमय अशरण-शरण अविकार ॥

'पत्रपुष्प'

मेरा बारम्बार नमस्कार है, इस तरह अभ्यास करते-करते जब चित्त शान्त, निर्मल और प्रसन्न हो जाय तब अपने मनको उस शेषशायी भगवान् नारायणदेवके ध्यानमें अचल कर देना चाहिये।

परमात्माके साकार और निराकार स्वरूपका ध्यान करनेके और भी बहुत-से साधन हैं, यहाँ केवल कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इस विषयका विशेष ज्ञान तो श्रीपरमात्मा और महात्माओंकी शरण ग्रहणकर साधनमें तत्पर होनेसे ही प्राप्त होता है। साकारके ध्यानमें यहाँ केवल श्रीविष्णु भगवान्‌के दो प्रकार बतलाये गये हैं। साधकगण इसी प्रकार अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रीतिके अनुसार श्रीराम, कृष्ण और शिव आदि भगवान्‌के अन्यान्य स्वरूपोंका भी ध्यान कर सकते हैं। फल सबका एक ही है।

एकान्त देशसे उठनेके बाद व्यवहारकालमें भी चलते-फिरते, उठते-बैठते सब समय अपने इष्टदेवके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन उसी प्रकार करते रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जीवनके अमूल्य समयका एक क्षण भी श्रीभगवान्‌के स्मरणसे रहित नहीं जाना चाहिये। जीवनमें सदा-सर्वदा जैसा अभ्यास होता है, अन्तमें भी उसीकी स्मृति रहती है और अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार ही उसकी गति होती है। इसीसे भगवान्‌ने श्रीगीताजी-में कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

'इसलिये (हे अर्जुन ! तू) सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धि-से युक्त हुआ (तू) निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म भगवान्के ध्यानसे साधकका हृदय पवित्र और निर्मल होता चला जाता है। सम्पूर्ण चिन्ताओंका विनाश होकर अन्तःकरणमें एक विलक्षण शान्तिकी स्थापना होती है। चित्त एकाग्र और अपने अधीन हो जाता है। साधनकी वृद्धिसे ज्यों-ज्यों अन्तःकरणकी निर्मलता और एकाग्रता बढ़ती है त्यों-ही-त्यों सच्चे आनन्दकी भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। सच्चे सुखका जब साधकको जरा-सा भी अनुभव मिल जाता है तब उसे उस सुखके सामने त्रिलोकीके राज्यका सुख भी अत्यन्त तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगता है। इस स्थितिमें साधारण भोगजनित मिथ्या सुखोंकी तो वह बात ही नहीं पूछता। बल्कि भोगविलास तो उस साधकको नाशवान्, क्षणिक और प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकारके साधनसे साधककी वृत्तियाँ बहुत ही शीघ्र संसारसे उपराम होकर भगवान्के स्वरूपमें अटल और स्थिर हो जाती हैं। साधक उस सच्चे और अपार आनन्दको सदाके लिये प्राप्त होकर तृप्त हो जाता है। उसके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है!

प्रिय पाठकगण! हमें इस बातका दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म

सर्वशक्तिमान् आनन्दकन्द भगवान्‌का साक्षात् करना ही है । यह इस लोक और परलोकमें सबसे महान्, नित्य और सत्य सुख है । इसको छोड़कर अन्यान्य जितने भी सांसारिक सुख प्रतीत होते हैं वे वास्तवमें सुख नहीं हैं । केवल मोहसे उनमें सुखकी मिथ्या प्रतीति होती है । वास्तवमें वे सब दुःख ही हैं । योगदर्शनमें कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥

(२ । १५)

'संसारके समस्त विषयजन्य सुख परिणाम, ताप, संस्कार और सांसारिक दुःखोंसे मिले हुए होने, तथा सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंकी वृत्तियोंके परस्पर विरोधी होनेके कारण विवेकी पुरुषोंके लिये दुःखमय ही हैं ।'

अतएव इन क्षणिक, नाशवान् और कृत्रिम सुखोंको सर्वथा परित्याग कर हमें अत्यन्त शीघ्र तत्पर होकर उस सच्चे सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें उत्साह और दृढ़तापूर्वक लग जाना चाहिये ।



घर-घरमें भगवान्की पूजा



भगवान्ने साकाररूपसे साक्षात् प्रकट होकर कभी मुझे दर्शन दिये हैं, इस बातके कहनेमें असमर्थ होनेपर भी मैं बड़े जोरके साथ यह विश्वास दिला सकता हूँ कि यदि कोई भगवत्परायण होकर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्की भक्ति करे तो उसे साक्षात् दर्शन देनेके लिये भगवान् निश्चय बाध्य हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार साकार रूपसे मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान्का प्रत्यक्ष दर्शन अनन्य भक्तिसे हो सकता है। अनन्य भक्तिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता

है । यदि सब समय भगवान्‌के नामका जप और हृदयमें उनका स्मरण करते हुए संसारके समस्त व्यवहार उसीके अर्थ किये जायँ तो परमात्मामें अनन्य भक्ति हो जाती है । अनन्य भक्तियुक्त पुरुष स्वयं पवित्र होता है, इसमें तो कहना ही क्या है, परन्तु वह अपने भक्तिके भावोंसे जगत्‌को पवित्र कर सकता है । यदि घरमें एक भी पुरुषको अनन्य भक्तिसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाय तो उसका समस्त कुल पवित्र समझा जाता है । कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

'जिसका चित्त उस अपार विज्ञानानन्दघन समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मामें लीन हो गया है उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती होती है।'

भगवान् नारद कहते हैं—

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः ।
पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि ।
सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥

(नारदभक्तिसूत्र)

'ऐसे भक्त कण्ठावरोध रोमाञ्चित और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं । वे तीर्थोंको सुतीर्थ और कर्मोंको सुकर्म तथा शास्त्रोंको सत् शास्त्र बनाते हैं, उनके भक्तिके आवेशसे वायुमण्डल

शुद्ध होता है, जिससे सम्बन्ध रखनेवाले सब कुछ पवित्र हो जाते हैं और पृथ्वीपर ऐसे पुरुषोंके निवाससे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। वे जिस तीर्थमें रहते हैं वही सुतीर्थ, वे जिन कर्मोंको करते हैं वे ही सत्कर्म और वे जिन शास्त्रोंका उपदेश करते हैं वे ही सत्शास्त्र बन जाते हैं।'

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति।

(नारदभक्तिसूत्र)

ऐसे भक्तोंको प्रकट हुए देखकर उनके पितृगण अपने उद्धारकी आशासे आह्लादित होते हैं, देवतागण उनके दर्शन कर नाचने लगते हैं, माता पृथ्वी अपनेको सनाथा समझने लगती है।

पद्मपुराणमें भी ऐसा ही वचन है।

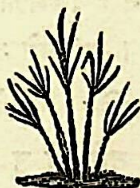
आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥

पितृ-पितामहगण अपने वंशमें भगवद्भक्त प्रकट हुआ, वह हमारा उद्धार कर देगा ऐसा जानकर प्रसन्न होकर नाचने लगते हैं और भी अनेक प्रमाण हैं। वास्तवमें ऐसे पुरुषका हृदय साक्षात् तीर्थ और उसका घर तीर्थरूप बन जाता है। अतएव सब भाइयोंको चाहिये कि वे परमात्माकी अनन्य भक्तिका साधन करें। इस साधनमें भगवान्‌के प्रति मन लगाना पड़ता है तथा अपना समय भगवत्-सेवामें लगानेका अभ्यास करना पड़ता है। इसके लिये यदि प्रत्येक घरमें एक-एक भगवान्‌की मूर्ति या चित्र रहे—मूर्ति या चित्र वही हो जो अपने मनको रुचता हो और

नित्य नियमपूर्वक उसकी पूजा की जाय तो समय और मन दोनोंको ही परमात्मामें लगानेका अभ्यास अनायास हो सकता है।

भगवान्‌के अनेक मन्दिर हैं, मन्दिरोंमें जाना बड़ा उत्तम है परन्तु एक तो सभी स्थानोंमें मन्दिर मिलते नहीं। दूसरे सभी जाकर अपनी इच्छाके अनुसार अपने हाथों सेवा-पूजा नहीं कर सकते। तीसरे सब मन्दिरोंकी व्यवस्था आजकल प्रायः ठीक नहीं रही। चौथे घरके सब स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध मन्दिरोंमें नियमित-रूपसे जा भी नहीं सकते। परन्तु घरमें किसी धातुकी, पाषाणकी भगवान्‌की कोई मूर्ति या चित्र सभी रख सकते हैं और उसकी पूजा अपने-अपने मतके अनुसार या प्रेमभक्ति-प्रकाशमें बतलायी हुई विधिके अनुसार स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं। घरमें नित्य भगवान्‌की पूजा होनेसे उसके लिये पूजाकी सामग्री जुटाने, पुष्पकी माला गूँथने आदिमें बहुत-सा समय एक तरहसे भगवत्-चिन्तनमें लग जाता है। बालकोंको भी इसमें बड़ा आनन्द मिलता है, वे भी इसको सीख जाते हैं। लड़कपनसे ही उनके हृदयमें भगवत्सम्बन्धी संस्कार जमने लगते हैं। व्यर्थके खेल-कूदकी बात भूलकर उनका चित्त इसी सत्कार्यमें प्रमुदित होने लगता है। छोटी उम्रके संस्कार आगे चलकर बड़ा काम देते हैं। भक्तिमती मीराबाई आदिमें इस लड़कपनके मूर्तिपूजाके संस्कारसे ही बड़ी उम्रमें भक्तिका विकास हुआ था। जिन लोगोंने अपने घरोंमें इस कार्यका आरम्भ कर दिया है उनकी भगवान्‌में श्रद्धा, भक्ति और प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

अतएव मैं सब भाइयोंसे, वेद, शास्त्र और पुराणादि न माननेवाले भाइयोंसे भी विनीत-भावसे यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे समझें तो अपने-अपने घरोंमें इस कामको तुरन्त आरम्भ कर दें। भगवान्की पूजाके साथ ही घरके सव पुरुष, स्त्रियाँ और बालक मिलकर भगवान्का नाम लें। भगवान्की पूजा चाहे एक ही व्यक्ति करे पर पूजाका अधिकार सबको हो। स्वामी न हो तो स्त्री पूजा कर ले, स्त्री न कर सके तो पुरुष कर ले। सारांश यह है कि भगवत्-पूजनमें नित्य कुछ-कुछ समय अवश्य लगता रहे। इससे घरभरमें श्रद्धा-भक्तिका विकास हो सकता है। जो लोग कर सकें वे बाह्य पूजाके साथ ही अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार या 'प्रेमभक्ति-प्रकाश' * के अनुसार भगवान्की मानसिक पूजा भी करें, क्योंकि आन्तरिक पूजाका महत्त्व और भी अधिक है। एक बार मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर इस पूजन-भक्तिका आरम्भकर इसका फल तो देखें! इससे अधिक विश्वास दिलानेका मेरे पास और कोई साधन नहीं है।



* 'प्रेमभक्ति-प्रकाश' नामक लेख इसीमें अन्यत्र प्रकाशित है, इसकी अलग पुस्तक भी गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिल सकती है।

वैराग्य



वैराग्यका महत्त्व



ल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वैराग्य-साधनकी परम आवश्यकता है। वैराग्य हुए बिना आत्माका उद्धार कभी नहीं हो सकता। सच्चे वैराग्यसे सांसारिक भोग-पदार्थोंके प्रति उपरामता उत्पन्न होती है। उपरामतासे परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ध्यान होता है। ध्यानसे परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होता है और ज्ञानसे उद्धार होता है। जो लोग ज्ञान-सम्पादनपूर्वक मुक्ति प्राप्त करनेमें वैराग्य और उपरामताकी कोई आवश्यकता नहीं समझते, उनकी मुक्ति वास्तवमें मुक्ति न होकर केवल भ्रम ही होता है। वैराग्य-उपरामता-रहित ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं, वह केवल वाचिक और शास्त्रीय ज्ञान है जिसका फल मुक्ति नहीं, प्रत्युत और भी कठिन बन्धन है। इसीलिये श्रुति कहती है—

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥
(ईश० म० ९)

'जो अविद्याकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्यामें रत हैं वे उससे भी अधिक अन्धकारमें

प्रवेश करते हैं।' ऐसा वाचिक ज्ञानी निर्भय होकर विषय-भोगोंमें प्रवृत्त हो जाता है, वह पापको भी पाप नहीं समझता, इसीसे वह विषयरूपी दलदलमें फँसकर पतित हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
तुलसी ऐसी आत्मा, सहज नरकमहँ जाय॥

वास्तवमें ज्ञानके नामपर महा अज्ञान ग्रहण कर लिया जाता है। अतएव यदि यथार्थ कल्याणकी इच्छा हो तो साधकको सच्चा, दृढ़ वैराग्य उपार्जन करना चाहिये। किसी स्वांगविशेषका नाम वैराग्य नहीं है। किसी कारणवश या मूढ़तासे स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादिका त्याग कर देना, कपड़े रँग लेना, सिर मुड़वा लेना, जटा बढ़ाना या अन्य बाह्य चिह्नोंका धारण करना वैराग्य नहीं कहलाता। मनसे विषयोंमें रमण करते रहना और ऊपरसे स्वांग बना लेना तो मिथ्याचार—दम्भ है। भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३।६)

'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

सम्प्रति दम्भका बहुत विस्तार हो रहा है, कोई लोगोंको ठगनेके लिये दिखलौआ मौन धारण करता है, कोई आसन लगाकर बैठता

है, कोई विभूति रमाता है, कोई केश बढ़ाता है, कोई धूनी तपता है, 'उदरनिमित्तं बहुकृतवेशम् ।'

इनमेंसे कोई-सा भी वैराग्य नहीं है । मेरे इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि, मैं स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, शिखा-सूत्रादि तथा कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करनेको बुरा समझता हूँ । न यही समझना चाहिये कि मौन धारण करना, आसन लगाना, विभूति रमाना, केश बढ़ाना या मुड़वाना आदि कार्य अशास्त्रीय और निन्दनीय हैं । न मेरा यही कथन है कि घर-बार त्यागकर इन चिह्नोंके धारण करनेवाले सभी लोग पाखण्डी हैं । उपर्युक्त कथन किसीकी निन्दा या किसीपर भी घृणा करनेके लिये नहीं समझना चाहिये । मेरा अभिप्राय यहाँ उन लोगोंसे है जो वैराग्यके नामपर पूजा पाने और लोगोंपर अनधिकार रोब जमाकर उन्हें ठगनेके लिये नाना भाँतिके स्वांग सजते हैं । जो साधक संयमके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, साधन बढ़नेके लिये ऐसा करते हैं उनकी कोई निन्दा नहीं है । भगवान्‌ने भी मिथ्याचारी उन्हींको बतलाया है जो बाहरसे संयमका स्वांग सजकर मन-ही-मन विषयों-का मनन करते रहते हैं । जो पुरुष चित्तकी वृत्तियोंको भगव-च्चिन्तनमें नियुक्तकर सच्ची वैराग्य-वृत्तिसे बाह्याभ्यन्तर त्याग करते हैं उनकी तो सभी शास्त्रोंने प्रशंसा की है ।

वैराग्य बहुत ही रहस्यका विषय है, इसका वास्तविक तत्त्व विरक्त महानुभाव ही जानते हैं । वैराग्यकी पराकाष्ठा उन्हीं पुरुषोंमें पायी जाती है जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं—जिन्होंने परमात्म-रसमें डूबकर विषय-रससे अपनेको सर्वथा मुक्त कर लिया है ।

भगवान् कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
(गीता २ । ५९)

'इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके केवल विषय निवृत्त हो जाते हैं, रस (राग) नहीं निवृत्त होता, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषका तो राग भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है ।'

अब हमें वैराग्यके स्वरूप, उसकी प्राप्तिके उपाय, वैराग्यप्राप्त पुरुषोंके लक्षण और फलके विषयमें कुछ विचार करना चाहिये । साधनकालमें वैराग्यकी दो श्रेणियाँ हैं । जिनको गीतामें वैराग्य और दृढ़वैराग्य, योगदर्शनमें वैराग्य और परवैराग्य एवं वेदान्तमें वैराग्य और उपरतिके नामसे कहा है । यद्यपि उपर्युक्त तीनोंमें ही परस्पर शब्द और ध्येयमें कुछ-कुछ भेद है परन्तु बहुत अंशमें यह मिलते-जुलते शब्द ही हैं । यहाँ लक्ष्यके लिये ही तीनोंका उल्लेख किया गया है ।

वैराग्यका स्वरूप

योगदर्शनमें यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार भेदसे वैराग्यकी चार संज्ञाएँ टीकाकारोंने बतलायी हैं, उसकी विस्तृत व्याख्या भी की है । वह व्याख्या सर्वथा युक्तियुक्त और माननीय है । तथापि यहाँ संक्षेपसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार वैराग्यके कुछ रूप बतलानेकी चेष्टा की जाती है, जिससे सरलतापूर्वक सभी लोग इस विषयको समझ सकें ।

भयसे होनेवाला वैराग्य—संसारके भोग भोगनेसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी। क्योंकि भोगमें संग्रहकी आवश्यकता है, संग्रहके लिये आरम्भ आवश्यक है, आरम्भमें पाप होता है, पापका फल नरक या दुःख है। इस तरह भोगके साधनोंमें पाप और पापका परिणाम दुःख समझकर उसके भयसे विषयोंसे अलग होना, भयसे उत्पन्न वैराग्य है!

विचारसे होनेवाला वैराग्य—जिन पदार्थोंको भोग मानकर उनके संगसे आनन्दकी भावना की जाती है, जिनकी प्राप्तिमें सुखकी प्रतीति होती है, वह वास्तवमें न भोग हैं, न सुखके साधन हैं, न उनमें सुख है। दुःखपूर्ण पदार्थोंमें—दुःखमें ही अविचारसे सुखकी कल्पना कर ली गयी है। इसीसे वह सुखरूप भासते हैं, वास्तवमें तो दुःख या दुःखके ही कारण हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निस्सन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।' अनित्य न प्रतीत हो तो इनको क्षणभंगुर समझकर सहन करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २। १४)

'हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य हैं इसलिये हे भारत ! उनको तू सहन कर ।' अगले श्लोकमें इस सहनशीलताका यह फल भी बतलाया है कि—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
(गीता २ । १५)

'दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्षके लिये योग्य होता है ।' आगे चलकर भगवान्‌ने यह स्पष्ट कह दिया है कि जो पदार्थ विचारसे असत् ठहरता है वह वास्तवमें है ही नहीं । यही तत्त्वदर्शियोंका निर्णीत सिद्धान्त है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
(गीता २ । १६)

'हे अर्जुन ! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ।'

इस प्रकारके विवेकद्वारा उत्पन्न वैराग्य 'विचारसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य' है ।

साधनसे होनेवाला वैराग्य—जब मनुष्य साधन करते-करते प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव करने लगता है तब उसके मनमें भोगोंके प्रति स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न होता है ।

उस समय उसे संसारके समस्त भोग-पदार्थ प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। सब विषय भगवत्प्राप्तिमें स्पष्ट बाधक दीखते हैं।

जो स्त्री-पुत्रादि अज्ञानीकी दृष्टिमें रमणीय, सुखप्रद प्रतीत होते हैं, वही उसकी दृष्टिमें घृणित और दुःखप्रद प्रतीत होने लगते हैं*। धन-मकान, रूप-यौवन, गाड़ी-मोटर, पद-गौरव, शान-शौकीनी, विलासिता-सजावट आदि सभीमें उसकी विषवत् बुद्धि हो जाती है और उनका संग उसे साक्षात् कारागारसे भी अधिक बन्धनकारक, दुखदायी तथा घृणास्पद बोध होने लगता है। मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान आदिसे वह इतना डरता है, जितना साधारण मनुष्य सिंह-व्याघ्र, भूत-प्रेत और यमराजसे डरते हैं। जहाँ उसे सत्कार, पूजा या सम्मान मिलनेकी किञ्चित् भी सम्भावना होती है, वहाँ जानेमें उसे बड़ा भय मालूम होता है। अतः ऐसे स्थानोंको वह दूरसे ही त्याग देता है। जिन प्रशंसा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मानकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्य फूले नहीं समाते, उन्हींमें उसको लज्जा, सङ्कोच और दुःख होता है, वह उनमें अपना अधःपतन समझता है? हमलोग जिस प्रकार अपवित्र और घृणित पदार्थोंको देखनेमें हिचकते हैं, उसी प्रकार वह मान-बड़ाईसे घृणा करता है। किसीको भी प्रसन्न करने या किसीके भी दबावसे वह मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता। उन्हें वह प्रत्यक्ष नरक-तुल्य

* इससे कोई यह न समझे कि स्त्रीपुत्रादिसे व्यवहारमें घृणा करनी चाहिये। गृहस्थ साधकको सबसे यथायोग्य प्रेमका बर्ताव करते हुए मनमें वैराग्यकी भावना रखनी चाहिये।

प्रतीत होते हैं। जो लोग उसे मान-बड़ाई देते हैं, उनके सम्बन्धमें वह यही समझता है कि यह मेरे भोले भाई मेरी हित-कामनासे विपरीत आचरण कर रहे हैं। *'भोले साजन शत्रु बराबर'* वाली उक्ति चरितार्थ करते हैं। इसलिये वह उनकी क्षणिक प्रसन्नताके लिये उनका आग्रह भी स्वीकार नहीं करता। वह जानता है कि इसमें इनका तो कोई लाभ नहीं है और मेरा अधःपतन है। पक्षान्तरमें स्वीकार न करनेमें न दोष है, न हिंसा है और इस कार्यके लिये इन लोगोंके इस आग्रहसे वाध्य होना धर्मसम्मत भी नहीं है। धर्म तो उसे कहते हैं जो इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी हो। जो लोक-परलोक दोनोंमें अहित करता है वह कल्याण नहीं, अकल्याण ही है। पुरस्कार नहीं, महान् विपद् ही है। माता-पिता मोहवश बालकके क्षणिक सुखके लिये उसे कुपथ्य सेवन कराकर अन्तमें बालकके साथ ही स्वयं भी दुःखी होते हैं इसी प्रकार यह भोले भाई भी तत्त्व न समझनेके कारण मुझे इस पाप-पथमें ढकेलना चाहते हैं। समझदार बालक माता-पिताके दुराग्रहको नहीं मानता तो वह दोषी नहीं होता। परिणाम देखकर या विचारकर माता-पिता भी नाराज नहीं होते। इस प्रकार विचार करनेपर ये भाई भी नाराज नहीं होंगे। यों समझकर वह किसीके द्वारा भी प्रदान की हुई मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता। वह समझता है कि इसके स्वीकारसे मैं अनाथकी भाँति मारा जाऊँगा। इतना त्याग मुझमें नहीं है कि दूसरोंकी जरा-सी खुशीके लिये मैं अपना सर्वनाश कर डालूँ। त्याग-बुद्धि हो, तो भी विवेक ऐसे त्यागको बुद्धिमानी या उत्तम नहीं बतलाता, जो सरल-चित्त भाई अज्ञानसे साधकोंको इस प्रकार मान-

बड़ाई स्वीकार करनेके लिये बाध्यकर उन्हें महान् अन्धकार और दुःखके गड्ढेमें ढकेलते हैं, परमात्मा उन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें जिससे वे साधकोंको इस तरह विपत्तिके भँवरमें न डालें।

साधनद्वारा इस प्रकारकी विवेकयुक्त भावनाओंसे भोगोंके प्रति जो वैराग्य होता है वह साधनद्वारा होनेवाला वैराग्य है। इस तरहके वैरागी पुरुषको संसारके स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, ऐश्वर्य आदि उसी प्रकार कान्तिहीन और नीरस प्रतीत होते हैं, जैसे प्रकाशमय सूर्यदेवके उदय होनेपर चन्द्रमा प्रतीत हुआ करता है!

परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे होनेवाला वैराग्य—जब साधकको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है तब तो संसारके सम्पूर्ण पदार्थ उसे स्वतः ही रसहीन और मायामात्र प्रतीत होने लगते हैं। फिर उसे भगवत्तत्त्वके अतिरिक्त किसीमें अन्य कुछ भी सार नहीं प्रतीत होता। जैसे मृगतृष्णाके जलको मरीचिका जान लेनेपर उसमें जल नहीं दिखायी देता, जैसे नींदसे जगनेपर स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर स्वप्नके संसारका चिन्तन करनेपर भी उसमें सत्ता नहीं मालूम होती, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषको जगत्के पदार्थोंमें सार और सत्ताकी प्रतीति नहीं होती। चतुर बाजीगरद्वारा निर्मित रम्य बगीचेमें अन्य सब मोहित होते हैं परन्तु जैसे उसका मर्मज्ञ तत्त्व जाननेवाला झमूरा उसे मायामय और निस्सार समझकर मोहित नहीं होता, (हाँ, अपने मायापति मालिककी लीला देख-देखकर आह्लादित अवश्य होता है) इसी प्रकार इस श्रेणीका वैरागी पुरुष विषय-भोगोंमें मोहित नहीं होता।

इस प्रकारके वैराग्यवान् पुरुषकी संसारके किसी भोग-पदार्थमें आस्था ही नहीं होती, तब उसमें रमणीयता और सुखकी भ्रान्ति तो हो ही कैसे सकती है ? ऐसा ही पुरुष परमात्माके परमपदका अधिकारी होता है ! इसीको परवैराग्य या दृढ़वैराग्य कहते हैं ।

वैराग्य-प्राप्तिके उपाय

उपर्युक्त विवेचनपर विचारकर साधकोंको चाहिये कि आरम्भमें वे संसारके विषयोंको परिणाममें हानिकर मानकर भयसे या दुःख-रूप समझकर घृणासे ही उनका त्याग करें । बारम्बार वैराग्यकी भावनासे, त्यागके महत्त्वका मनन करनेसे, जगत्की यथार्थ स्थितिपर विचार करनेसे, मृत पुरुषों, सूने महलों, टूटे मकानों और खँडहरोंको देखने-सुननेसे, प्राचीन नरपतियोंकी अन्तिम गतिपर ध्यान देनेसे और विरक्त, विचारशील पुरुषोंका संग करनेसे ऐसी दलीलें हृदयमें स्वयमेव उठने लगती हैं, जिनसे विषयोंके प्रति विराग उत्पन्न होता है । पुत्र-परिवार, धन-मकान, मान-बड़ाई, कीर्ति-कान्ति आदि समस्त पदार्थोंमें निरन्तर दुःख और दोष देख-देखकर उनसे मन हटाना चाहिये । भगवान्ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
(गीता १३ । ८-९)

इसलोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग

आदिमें दुःख-दोषोंका बारम्बार विचार करना तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्ति और ममताका अभाव करना चाहिये ।

विचार करनेपर ऐसी और भी अनेक दलीलें मिलेंगी जिनसे संसारके समस्त पदार्थ दुःखरूप प्रतीत होने लगेंगे ।

योगदर्शनका सूत्र है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

(साधनपाद १५)

परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख और दुःखोंसे मिश्रित होने और गुण-वृत्ति-विरोध होनेसे विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें समस्त विषयसुख दुःखरूप ही हैं । अब यहाँ इसका कुछ खुलासा कर दिया जाता है—

परिणामदुःखता—जो सुख आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखरूप हो, वह सुख परिणामदुःखता कहलाता है । जैसे रोगीके लिये आरम्भमें जीभको स्वाद लगनेवाला कुपथ्य ! वैद्यके मना करनेपर भी इन्द्रियासक्त रोगी आपात-सुखकर पदार्थको स्वादवश खाकर अन्तमें दुःख उठाता, रोता, चिल्लाता है, इसी प्रकार विषयसुख आरम्भमें रमणीय और सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखकर हैं । भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।

(गीता १८ । ३८)

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है परन्तु परिणाममें वह (बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे) विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ।

दादकी खाज खुजलाते समय बहुत ही सुखद मालूम होती है । परन्तु परिणाममें जलन होनेपर वही महान् दुःखद हो जाती है । यही विषय-सुखोंका परिणाम है । इसलोक और परलोकके सभी विषय-सुख परिणामदुःखताको लिये हुए हैं । बड़े पुण्यसञ्चयसे लोगोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है परन्तु '*ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।*' वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं । इसलिये गुसाईंजी महाराजने कहा है—

एहि तनुकर फल विषय न भाई ।
स्वरगउ स्वल्प अन्त दुखदाई ॥

तापदुःखता—पुत्र, स्त्री, स्वामी, धन, मकान आदि सभी पदार्थ हर समय ताप देते जलाते रहते हैं । कोई विषय ऐसा नहीं है जो विचार करनेपर जलानेवाला प्रतीत न हो । इसके सिवा जब मनुष्य अपनेसे दूसरोंको किसी भी विषयमें अधिक बढ़ा हुआ देखता है तब अपने अल्प सुखके कारण उसके हृदयमें बड़ी जलन होती है । विषयोंकी प्राप्ति, उनके संरक्षण और नाशमें भी सदा जलन बनी ही रहती है । कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखं तथैव परिपालने ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं क्लेशकारिणम् ॥

धन कमानेमें कई तरहके सन्ताप, उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें सन्ताप, कहीं किसीमें डूब न जाय, इस चिन्तालयमें सदा ही जलना पड़ता है, नाश हो जाय तो जलन, खर्च हो जाय तो जलन, छोड़कर मरनेमें जलन, मतलब यह कि, आदिसे अन्त-तक केवल सन्ताप ही रहता है। इसलिये इसको धिक्कार दिया गया। यही हाल पुत्र, मान-बड़ाई आदिका है! सभीमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक सन्ताप बना रहता है! ऐसा कोई विषय-सुख नहीं जो सन्ताप देनेवाला न हो!

संस्कारदुःखता—आज स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय प्राप्त हैं उनके संस्कार हृदयमें अंकित हो चुके हैं इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारोंके कारण उन वस्तुओंका अभाव महान् दुःखदायी होता है। मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर, सुडौल और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे पतिसे मुझे कितना सुख मिलता था, मेरी बड़ाई जगत्भरमें छा रही थी, मेरे पास लाखों रुपये थे। परन्तु आज मैं क्या-से-क्या हो गया? मैं सब तरहसे दीन-हीन हो गया, यद्यपि उसीके समान जगत्में लाखों-करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन विषयोंसे रहित हैं परन्तु वे ऐसे दुःखी नहीं हैं। जिसके विषय-भोगोंकी बाहुल्यताके समय सुखोंके संस्कार होते हैं उसे ही उनके अभावकी प्रतीति होती है। अभावकी प्रतीतिमें दुःख भरा हुआ है। यही संस्कारदुःखता है।

इसके सिवा यह बात भी सर्वथा ध्यानमें रखनी चाहिये कि संसारके सभी विषय-सुख सभी अवस्थामें दुःखसे मिश्रित हैं।

गुण-वृत्तियोंके विरोधजन्य दुःख—एक मनुष्यको कुछ झूठ बोलने या छल-कपट, विश्वासघात करनेसे दस हजार रुपये मिलनेकी सम्भावना प्रतीत होती है। उस समय उसकी सात्त्विक वृत्ति कहती है 'पाप करके रुपये नहीं चाहिये, भीख माँगना या मर जाना अच्छा है, परन्तु पाप करना उचित नहीं।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है 'क्या हर्ज है? एक बार तनिक-सी झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौन-सी है? जरा-से छल-कपट या विश्वासघातसे क्या होगा? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दरिद्र मिटा लें, भविष्यमें ऐसा नहीं करेंगे।'

यों सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमें महान् युद्ध मच जाता है, इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है। विषाद और उद्विग्नताका पार नहीं रहता।

इसी तरह राजसी, तामसी वृत्तियोंका झगड़ा होता है। एक मनुष्य शतरञ्ज या ताश खेल रहा है। उधर उसके समयपर न पहुँचनेसे घरका आवश्यक काम बिगड़ता है। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है—'उठो, चलो हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।' इधर प्रमादरूपा तामसी वृत्ति पुनः-पुनः उसे खेलकी ओर खींचती है, वह बेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुखी हो जाता है।

उदाहरणके लिये दो दृष्टान्त ही पर्याप्त हैं।

इस प्रकार विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि संसारके सभी सुख दुःखरूप हैं। अतएव इनसे मन हटानेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त भयसे और विचारसे होनेवाले दोनों प्रकारके वैराग्योंको प्राप्त करनेके यही उपाय हैं, यह उपाय पूर्वापेक्षा उत्तम श्रेणीके वैराग्य-सम्पादनमें भी अवश्य ही सहायक होते हैं। परन्तु अगले दोनों वैराग्योंकी प्राप्तिमें निम्नलिखित साधन विशेष सहायक होते हैं।

परमात्माके नाम-जप और उनके स्वरूपका निरन्तर स्मरण करते रहनेसे हृदयका मल ज्यों-ज्यों दूर होता है, त्यों-त्यों उसमें उज्ज्वलता आती है। ऐसे उज्ज्वल और शुद्ध अन्तःकरणमें वैराग्यकी लहरें उठती हैं, जिनसे विषयानुराग मनसे स्वयमेव ही हट जाता है। इस अवस्थामें विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मैले दर्पणको रूईसे घिसनेपर ज्यों-ज्यों उसका मैल दूर होता है त्यों-ही-त्यों वह चमकने लगता है और उसमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलाई पड़ता है, इसी प्रकार परमात्माके भजन-ध्यानरूपी रूईकी चालू रगड़से अन्तःकरणरूपी दर्पणका मल दूर होनेपर वह चमकने लगता है और उसमें सुखस्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। ऐसी स्थितिमें जरा-सा भी बाकी रहा हुआ विषय-मलका दाग साधकके हृदयमें शूल-सा खटकता है। अतएव वह उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ उस दागको मिटानेके लिये भजन-ध्यानमें तत्पर होकर अन्तमें उसे सर्वथा मिटाकर ही छोड़ता है। ज्यों-ज्यों भजन-ध्यानसे अन्तःकरणरूपी दर्पणकी सफाई होती है त्यों-त्यों साधककी आशा और उसका उत्साह बढ़ता रहता है, भजन-ध्यानरूपी साधन-तत्त्व न

समझनेवाले मनुष्यको ही भाररूप प्रतीत होता है। जिसको इसके तत्त्वका ज्ञान होने लगा है वह तो उत्तरोत्तर आनन्दकी उपलब्धि करता हुआ पूर्णानन्दकी प्राप्तिके लिये भजन-ध्यान बढ़ाता ही रहता है। उसकी दृष्टिमें विषयोंमें दीखनेवाले विषय-सुखकी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। इससे उसे दृढ़ वैराग्यकी बहुत शीघ्र प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने इस दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा ही अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलवाले संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको काटनेके लिये कहा है।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

(गीता १५।३)

संसारके चित्रको सर्वथा भुला देना ही इस अश्वत्थ-वृक्षका छेदन करना है। दृढ़ वैराग्यसे यह काम सहज ही हो सकता है।

भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

(गीता १५।४)

इसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये, (उस परमात्माके विज्ञान आनन्दघन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का बारम्बार चिन्तन करना ही उसे ढूँढ़ना है) जिसमें गये हुए पुरुष फिर वापस संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ (उस परमपदके

स्वरूपको पकड़ लेना—उसमें स्थित हो जाना ही उसकी शरण होना है) इस प्रकार शरण होनेपर—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
(गीता १५।५)

नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी तरह नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुखदुःख-नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ।

वैराग्यका फल

बस, इस प्रकार एक परमात्माका ज्ञान रह जाना ही अटल समाधि या जीवन्मुक्त-अवस्था है, उसीके यह लक्षण हैं । तदनन्तर ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष भगवान्‌के भक्त संसारमें किस प्रकार विचरते हैं, उनकी कैसी स्थिति होती है, इसका विवेचन गीताके अध्याय १२ के श्लोक १३ से १९ तक निम्नलिखित रूपमें है, भगवान् उनके लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

'इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेष-भावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है । जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है । जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता एवं जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मुझे प्रिय है । जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतर शुद्ध, चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपातसे

रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है। जो पुरुष शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।'

अतएव इस असार संसारसे मन हटाकर इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्यवान् होकर सबको परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये !



गीतासम्बन्धी प्रश्नोत्तर



एक सज्जनके प्रश्न हैं—

(१) गीता वेदोंको मानती है कि नहीं ? यदि मानती है तो किस दृष्टिसे ? अध्याय २ श्लोक ४२, ४५, ४६, ५३ में वेदोंको क्यों नीची दृष्टिसे कथन किया है ?

(२) गीता वर्णाश्रम-धर्मको मानती है या नहीं ? यदि मानती है तो किस प्रकारसे ? यदि नहीं मानती है तो वर्णाश्रम-धर्मको क्यों चाहती है ? अगर मानती है तो सब धर्म छोड़कर अ० १८ के ६६ (श्लोक) का क्या अर्थ है ?

(३) गीता कर्मको मानती है या ज्ञानको, या दोनोंको ? यदि केवल कर्मको मानती है तो ज्ञान निष्फल है, यदि ज्ञानको मानती है तो कर्म निष्फल है, यदि ज्ञानको वताती है तो कर्मको क्यों चाहती है ?

(४) गीता मूर्त्तिपूजाको मानती है कि नहीं ? यदि नहीं मानती है तो अध्याय ९ के २६ वें श्लोकका क्या अर्थ है ? यदि मानती है तो निराकार या साकार ?

(५) गीतामें लिखा है कि बिना शिष्य बनाये ज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये तो क्या अर्जुन शिष्य थे ? क्या अर्जुनको उपदेश देनेसे ज्ञान हुआ ? क्या वे परमपदको प्राप्त हुए ?

(६) गीताको भगवान् कृष्णने अपने मुखारविन्दसे वर्णन किया है या (उसके) रचयिता कोई और पुरुष थे?

उत्तर—

(१) गीता वेदोंको मानती है और उनको बहुत ऊँची दृष्टिसे देखती है। दूसरे अध्यायके इन श्लोकोंमें वेदोंकी निन्दा नहीं की गयी है, केवल भोग-ऐश्वर्य या स्वर्गादिरूप क्षणभंगुर और विनाशी फल देनेवाले सकाम कर्मोंसे अलग रहकर आत्मपरायण होनेके लिये कहा गया है। भोगोंमें मनुष्यकी स्वाभाविक ही प्रवृत्ति रहती है। इसपर यदि 'अमुक कर्मसे बहुत धन मिलेगा।' 'अमुक कर्मसे मनचाहे स्त्री-पुत्रादि मिलेंगे।' 'अमुकसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होगी।' आदि सुहावने वचन सुननेको मिल जायँ तब तो मनका अपहरण हो जाना अनिवार्य हो जाता है। भोगलालसा बढ़कर बुद्धिको डावाँडोल कर देती है। बहुशाखावाली बुद्धिसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती और उसके हुए बिना दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा नहीं मिलता। इसीसे आगे चलकर नवें अध्यायमें फिर कहा गया है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥

(२०, २१)

'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले पापोंसे पवित्र हुए जो पुरुष मुझे यज्ञोंद्वारा

पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे अपने पुण्योंके फलरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं और उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार (स्वर्गके साधनरूप) तीनों (ऋक्, यजु, साम) वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए भोगकामनावाले पुरुष बारम्बार आवागमनको प्राप्त होते हैं।'

तात्पर्य यह कि सकाम कर्ममें लगे हुए पुरुषोंको वारम्वार संसारमें आना-जाना पड़ता है, उन्हें जन्मरूप कर्मफल ही मिलता है। जन्ममृत्युके चक्रसे उनका पिण्ड नहीं छूटता। इस विवेचनसे यह बतलाना है कि यहाँ वास्तवमें वेदकी निन्दा नहीं है। सकाम कर्म, परम श्रेयकी प्राप्ति नहीं करानेवाले होनेके कारण उन्हें निष्काम कर्म और निष्काम उपासनाकी अपेक्षा नीची श्रेणीका बतलाया है। उनको बुरा नहीं बताया, यह कहीं नहीं कहा कि वैदिक सकामकर्मी पुरुष *'मोहजालसमावृताः'* आसुरी सम्पत्तिवाले पुरुषोंकी तरह *'पतन्ति नरकेऽशुचौ'* अपवित्र नरकमें पड़ते हैं या *'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥'* [१६। २०] हे कौन्तेय! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मुझे न पाकर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं। बल्कि यह कहा है कि वे पूतपाप (देव-ऋणरूप पापोंसे मुक्त होकर) स्वर्गकी इच्छासे यज्ञद्वारा भगवत्-पूजा करनेवाले होनेके कारण स्वर्गके दिव्य और विशाल भोगोंको भोगते हैं।

पक्षान्तरमें वेदका महत्त्व प्रकट करनेवाले अनेक वचन गीतामें मिलते हैं—*'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'* [३ । १५] 'कर्मको वेदसे और वेदको अक्षरपरमात्मासे उत्पन्न हुआ जान ।' *'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः । ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥'* [१७ । २३] ॐ तत् सत् ये ब्रह्मके त्रिविध नाम कहे हैं, सृष्टिकी आदिमें ब्राह्मण 'वेद' और यज्ञादि उसीसे ही रचे गये हैं । इन वचनोंसे वेदकी उत्पत्ति परमात्मासे हुई बतलायी गयी है। *'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे । कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥'* [४ । ३२] ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तार किये गये हैं उन सबको शरीर, मन और इन्द्रियोंके क्रियाद्वारा ही उत्पन्न होनेवाले जान । इस प्रकार तत्त्वसे जानकर निष्काम कर्मयोगद्वारा संसार-बन्धनसे मुक्त हो जायगा । यहाँ वैदिक कर्मोंका तत्त्व समझकर उनके निष्काम आचरणसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है । *'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति ।'* [८ । ११] 'वेदको जाननेवाले जिस परमात्माको अक्षर (ओंकार नामसे) कहते हैं ।' इसमें वेदकी प्रशंसा स्पष्ट है । ठीक यही वाक्य कठोपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रमें है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्

(वल्ली २ । १५)

'....पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च' पवित्र ओंकार और ऋक्, साम तथा यजुर्वेद मैं ही हूँ ।' [९ । १७] इन वचनोंसे गीता-

कार भगवान्‌ने वेदको अपना स्वरूप माना है । '*छन्दोभिर्विविधैः पृथक्* ।' [१३ । ४] विविध वेदमन्त्रोंसे (क्षेत्रक्षेत्रज्ञका तत्त्व) विभागपूर्वक कहकर अपने वचनोंकी पुष्टिमें वेदका प्रमाण दिया है '*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्* ।' [१५ । १५] "समस्त वेदोंद्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ और वेदान्तका कर्ता तथा वेदवित् भी मैं ही हूँ ।' इन वचनोंसे भगवान्‌ने अपनेको वेदसे वेद्य और वेदका ज्ञाता बतलाकर वेदकी महान् प्रतिष्ठा स्पष्ट स्वीकार की है इसके सिवा और भी कई स्थल ऐसे हैं जहाँ वेदोंकी प्रशंसा की गयी है ।

इससे यह पता लग जाता है कि गीता वेदको नीचा नहीं मानती । गीताने केवल सकाम कर्मको ही निष्कामकी अपेक्षा नीचा बतलाया है । वास्तवमें इस लोक और परलोकके भोगपदार्थ तो मोक्षसे सदा ही नीचे हैं । स्वयं वेद भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है । यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें इसका विवेचन है । कठोपनिषद्‌के यम-नचिकेता-संवादमें प्रेय-श्रेयका विवेचन करते हुए यमराजने भोग-ऐश्वर्यादि प्रेयकी निन्दा और मोक्ष-श्रेयकी बड़ी प्रशंसा की है एवं भोग-ऐश्वर्यमें अनासक्त होनेके कारण नचिकेताकी बहुत बड़ाई की है । (कठ व० २ । १, २, ३) इसी प्रकारकी बात गीतामें है । निष्काम कर्म, निष्काम उपासना और आत्मतत्त्वकी जगह-जगह प्रशंसा करके गीताने प्रकारान्तरसे वेदका ही समर्थन किया है ।

(२) गीता वर्णाश्रमको मानती है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र चारों वर्ण अपने-अपने स्वाभाविक वर्ण-धर्मका स्वार्थ-रहित निष्काम भावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ आचरण करें तो उनकी मुक्ति होना गीताको सर्वथा मान्य है। गीता अध्याय १८ श्लोक ४१से४४ तक चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्म बतलाकर ४५-४६ में उन्हीं स्वाभाविक कर्मोंसे उनके लिये परम सिद्धिकी प्राप्ति होना बतलाया है और ४७-४८ में वर्ण-धर्मके पालनपर विशेष जोर दिया है।

गीता जन्म-कर्म दोनोंसे वर्ण मानती है। *'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'* [४ । १३] 'गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं।' इन वचनोंसे उनका पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप गुणकर्मके अनुसार रचा जाना सिद्ध होता है न कि पीछेसे मानना। इसीलिये गीता वर्णधर्मको 'स्वभावज' और 'सहज' (जन्मके साथ ही उत्पन्न होनेवाला) कर्म कहती है। परमेश्वरकी शरण होकर कोई भी अपने स्वाभाविक कर्म-द्वारा निष्कामभावसे उसकी उपासना करके मुक्त हो सकता है। वर्णोंके अनुसार कर्मोंमें भेद मानती हुई भी मुक्तिके सम्बन्धमें गीता सबका समान अधिकार बतलाती है। गीताकी घोषणा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८ । ४६)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(९ । ३२-३३)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सब जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है। 'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पाप योनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं फिर पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्तोंका तो कहना ही क्या है? अतएव तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

गीता अध्याय १८ । ६६ में *'सर्वधर्मान्परित्यज्य'* का अर्थ सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है। क्योंकि पहले अ० १६ । २३-२४ में शास्त्रविधिके त्यागसे सिद्धि, सुख और परमगतिका न होना बतलाकर शास्त्रविधिसे नियत किये हुए धर्मका पालन करना कर्तव्य बतलाया है। अध्याय १८ । ४७-४८ में भी स्वधर्म-पालनपर बड़ा जोर दिया है। वहाँ ऐसा प्रतिपादन करके यहाँ सब धर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आज्ञा देना संभव नहीं। यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि अपने वचनोंके विरुद्ध यहाँ भगवान्ने स्वरूपसे धर्म छोड़नेकी आज्ञा ही दी है तो फिर अ० १८ । ७३ में *'करिष्ये वचनं तव'* *'आपकी आज्ञानुसार करूंगा।'* कहकर अर्जुनका युद्धरूप वर्णधर्मका

आचरण करना उससे विरुद्ध पड़ता है। भगवान्‌ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा दी। अर्जुनने उसे स्वीकार भी कर लिया फिर उसके विरुद्ध अर्जुन युद्ध क्यों करता? इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा नहीं दी। यहाँ '*सर्व-धर्मान् परित्यज्य*' से उनका यही मतलब है कि मनुष्यको सब धर्मोंका 'आश्रय' छोड़कर केवल एक परमात्माका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। धर्मको स्वरूपसे त्यागकी बात नहीं है। बात है केवल आश्रय (शरण) के त्यागकी। यह तो वर्ण-धर्मकी बात हुई। वर्णकी भाँति आश्रम-धर्मका गीतामें स्पष्ट और विस्तृत वर्णन नहीं है। गौणरूपसे आश्रमको गीताने स्वीकार किया है। '*ब्रह्मचर्यं चरन्ति*' '*यतयो वीतरागाः।*' [८। ११] '*तपस्विभ्यः।*' [६। ४६] '*ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं। आसक्तिरहित संन्यासी*' '*तपस्वियोंसे*' आदि शब्दोंसे ब्रह्मचर्य, संन्यास और वानप्रस्थका निर्देश किया गया है। गृहस्थका वर्णन तो स्पष्ट ही है।

(३) गीता अधिकारी-भेदसे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों निष्ठाओंको मुक्तिके दो स्वतन्त्र साधन मानती है। दोनों ही निष्ठाओंका फल एक भगवत्प्राप्ति होनेपर भी दोनोंके साधकोंकी कार्यपद्धति, उनके भाव और पथ सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं। दोनों निष्ठाओंका साधन एक ही कालमें एक पुरुषद्वारा नहीं बन सकता।

निष्काम कर्मयोगी साधनकालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वर-परायण हो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही समस्त कर्म करता

है और ज्ञानयोगी मायाके गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं यों समझकर देहेन्द्रियोंसे होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तृत्वाहङ्कार न रखकर केवल सर्वव्यापी परमात्माके स्वरूपमें ऐक्यभावसे स्थित रहता है।

दोनोंमेंसे किसी भी निष्ठाके अनुसार स्वरूपसे कर्म त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। उपासनाकी आवश्यकता दोनोंमें है। इस विषयका विस्तृत विवेचन 'गीतोक्त संन्यास' और 'गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप' शीर्षक लेखोंमें किया गया है* ।

(४) गीता मूर्तिपूजाको मानती है, अध्याय ९। २६ और ९। ३४ के श्लोकसे यह प्रमाणित है। अब रही स्वरूपकी बात, सो गीताको भगवान्‌के साकार-निराकार दोनों ही स्वरूप मान्य हैं। उदाहरणार्थ कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(४। ६-९)

---

* 'गीतोक्त सांख्ययोग' और 'निष्काम कर्मयोग' लेख इसीमें अन्यत्र प्रकाशित हैं और वह पुस्तकाकार भी छप गये हैं, गीताप्रेससे पुस्तक मिल सकती है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(९ । ११, २६, ३४)

भगवान् कहते हैं—'मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ । हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ । साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म-स्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ । हे अर्जुन ! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे ज़ानता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ।'

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुएको साधारण मनुष्य मानते हैं । पत्र पुष्प फल जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता

है उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम-प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादि मैं (सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित) खाता हूँ। (तू) मुझमें ही मनवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा करनेवाला हो, मुझ वासुदेवको ही प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मुझमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा।'

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

(गीता १० । १२-१३ और ११ । १७, ४६)

अर्जुन कहते हैं—

'आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष, देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं; वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवलऋषि, महर्षि व्यास और स्वयम् आप भी मेरे प्रति कहते हैं।' आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब तरफसे प्रकाशमान तेजका पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, देखनेमें

अति गहन और अप्रमेय स्वरूप सब ओरसे देखता हूँ । 'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथोंमें लिये हुए देखना चाहता हूँ अतएव हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस चतुर्भुज रूपसे युक्त होइये अर्थात् चतुर्भुजरूप दिखलाइये ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
(१२ । २)

भगवान् कहते हैं—'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजनध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् मैं उन्हें अति श्रेष्ठ मानता हूँ ।'

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥
(१८ । ७७)

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं—

'हे राजन् ! श्रीहरिके उस अति अद्भुत रूपको पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ ।'

उपर्युक्त श्लोक साकार स्वरूपके प्रतिपादक हैं । नीचे निराकारके प्रतिपादक श्लोक हैं ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(६ । ३१)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(७ । १९)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
(८ । २१)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
(९ । ४–५)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(१२ । ३–४)

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥
(१३ । १५, २७, ३०)

भगवान् कहते हैं—

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है वह योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है। क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। (जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है इस प्रकार मुझको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है। (जो) अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है उसी अक्षर नामक अव्यक्त भावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते हैं वह मेरा परमधाम है। मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् (जलसे बर्फके सदृश) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार स्थित हैं (इसलिये वास्तवमें) मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और (वे) सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं। (किन्तु) मेरी योगमाया और प्रभावको देख (कि) भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंका उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा (वास्तवमें) भूतोंमें स्थित नहीं है। जो पुरुष इन्द्रिय-समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय-स्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासते हैं वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए सबमें समान भाववाले योगी भी मुझको ही प्राप्त होते हैं। (परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी (वही) है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और अति

दूरमें भी वही स्थित है। जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है वही देखता है। जिस कालमें भूतोंके न्यारे-न्यारे भावको एक परमात्माके सङ्कल्पके आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्माके सङ्कल्पसे हीं सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस कालमें (वह) सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

(५) गीतामें ऐसा कहीं नहीं कहा गया कि 'बिना शिष्य बनाये ज्ञानका उपदेश नहीं करना चाहिये। तथापि अर्जुन तो अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानता भी था '*शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्*। [२।७] '*आपका शिष्य हूँ, आपके शरण हूँ मुझे शिक्षा दीजिये*' कहकर अर्जुनने शिष्यत्व स्वीकार किया है और भगवान्‌ने इसका विरोध न कर तथा जगह-जगह अर्जुनको अपना इष्ट, प्रिय और भक्त मानकर प्रकारान्तरसे उसका शिष्य होना स्वीकार किया है। अर्जुनको परम पदकी प्राप्ति हुई थी, इसका उल्लेख महाभारत स्वर्गारोहणपर्वके चतुर्थ अध्यायमें है।

(६) गीता भगवान्‌के ही श्रीमुखका वचनामृत है। गीतामें जितने वचन 'श्रीभगवानुवाच' के नामसे हैं उनमें कुछ तो जो श्रुतियोंके प्रायः ज्यों-के-त्यों वचन हैं अर्जुनको श्लोकरूपमें ही कहे गये थे और अवशेष संवाद बोलचालकी भाषामें हुआ था जिसको भगवान् श्रीव्यासदेवने श्लोकोंका रूप दे दिया।

गीतोक्त
संन्यास या सांख्ययोग

एक सज्जनका प्रश्न है कि—

"गीतामें वर्णन किये हुए संन्यासका स्वरूप क्या है?"



ताका मर्म बतलाना बड़ा कठिन कार्य है। गीता ऐसा गहन ग्रन्थ है कि इसपर अबतक अनेक बड़े-बड़े विद्वान् साधु-महात्माओंने अपनी बुद्धिका उपयोग किया है और अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं, इतना होते हुए भी इस गीताशास्त्रके अन्दर गोता लगानेवालोंको इसमें नये-नये अमूल्य रत्न मिलते ही चले जा रहे हैं, ऐसे शास्त्रका रहस्य क्या बतलाया जाय? यद्यपि गीताशास्त्रपर विवेचन करना मेरी बुद्धिसे बाहरकी बात है तथापि मैं अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार अपने मनमें समझे हुए साधारण भावोंको आप-लोगोंकी सेवामें उपस्थित करता हूँ। मेरा उद्देश्य किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, मत या किसी टीकाकारपर कुछ भी आक्षेप करना नहीं है। केवल मनके भावोंको बतला देनामात्र ही मेरा उद्देश्य है।

गीतोक्त संन्यासके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है—

(१) एक पक्ष कहता है कि गीतामें संन्यास और कर्मयोग नामक दो निष्ठाओंका वर्णन है जिनमें केवल संन्यास ही मुक्तिका

प्रधान और प्रत्यक्ष हेतु है और वह संन्यास 'सम्यक् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना है' अर्थात् शास्त्रोक्त संन्यासाश्रमका ग्रहण करना है।

(२) दूसरा पक्ष कहता है कि यद्यपि शास्त्रोक्त संन्यासाश्रम अर्थात् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंके स्वरूपसे त्यागसे भी भगवत्-प्राप्ति हो सकती है परन्तु गीतामें इसका प्रतिपादन नहीं है, यदि कहीं है तो वह अत्यन्त गौणरूपसे है। गीता तो केवल एकमात्र निष्काम कर्मयोगका ही प्रतिपादन करती है एवं गीतामें आये हुए संन्यास शब्दका समावेश भी प्रायः निष्काम कर्मयोगमें ही है।

(३) एक तीसरा पक्ष है जो कर्मोंके स्वरूपसे त्याग किये जानेवाले शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रमको मानता हुआ भी गीतामें कथित सांख्य और कर्मयोग नामक दोनों भिन्न-भिन्न निष्ठाओंको भगवत्-प्राप्तिके दो सर्वथा स्वतन्त्र साधन समझता है और सांख्य या संन्यास शब्दसे संन्यास-आश्रम नहीं समझता। परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेको ही संन्यास कहता है।

गौणरूपसे और भी कितने ही पक्ष हैं परन्तु उन सबका समावेश प्रायः उपर्युक्त तीन पक्षोंके अन्तर्गत हो जाता है। अब इस बातपर विचार करना है कि इनमेंसे कौन-सा पक्ष अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही है। इसपर क्रमशः विचार किया जाता है।

(१) पहले पक्षके सिद्धान्तानुसार यदि संन्यासको ही मुक्तिका एकमात्र हेतु मान लेते हैं तो गीतामें जहाँपर भगवान्‌ने कहा है—

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।"

(५।५)

'जो स्थान ज्ञानयोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है वही निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी प्राप्त किया जाता है' इन वाक्योंका कोई मूल्य नहीं रहता । यहाँ भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे सांख्ययोगके समान ही निष्काम कर्मयोगको भी स्वतन्त्र साधन स्वीकार किया है ।

इसके सिवा इसी अध्यायके द्वितीय श्लोकमें संन्यास और कर्मयोग दोनोंको परम कल्याण करनेवाले कहा है और कर्मयोगको संन्यासकी अपेक्षा उत्तम बतलाया है, इस अवस्थामें यह कैसे माना जा सकता है कि निष्काम कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है ? अवश्य ही दोनों साधनोंके स्वरूपमें बड़ा भारी अन्तर है और दोनोंके अधिकारी भी दो प्रकारके साधक होते हैं, एक साथ दोनों साधनोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता । भिन्न-भिन्न समयपर दोनों साधनोंका प्रयोग एक साधक भी कर सकता है, इससे यह तो सिद्ध हो गया कि दोनों ही साधन मोक्षके भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, अब विचारना यह है कि यहाँ संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रम विवक्षित है या और कुछ ? अर्जुनके इस प्रश्नसे कि—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

(गीता ५ । १)

'हे कृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और कर्मयोगकी भी प्रशंसा करते हैं इसलिये इन दोनोंमें जो एक निश्चित कल्याण-

कारक साधन हो उसको मुझे बतलाइये ।' यदि यह मान लिया जाय कि गीतामें संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रम या नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग विवक्षित है तो यह बात युक्तियुक्त नहीं जँचती क्योंकि इसके पहले भगवान्‌ने ऐसे किसी आश्रम-विशेषकी या कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करनेकी कहीं प्रशंसा नहीं की है जिसके आधारपर अर्जुनके प्रश्नका यह अभिप्राय माना जा सके । भगवान्‌ने तो इससे पहले स्थान-स्थानपर ज्ञानकी और वैराग्यादि सात्त्विक भावोंकी एवं शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तृत्व-अभिमानके त्यागकी ही प्रशंसा की है, इतना ही नहीं इसके साथ ही साथ ज्ञानीके शरीरद्वारा नियतकर्म किये जानेकी भी आवश्यकता दिखलायी है। (अ० ३ । २०–२३, २५–२७, २९, ३३; अ० ४ । १५)

सम्यक् ज्ञानपूर्वक संन्यास-आश्रमसे सुगमताके साथ मुक्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु मेरी समझमें उस मुक्तिमें संन्यास-आश्रम हेतु नहीं, उसमें हेतु है सम्यक् ज्ञान जो सभी वर्ण और आश्रमोंमें उपलब्ध हो सकता है। (गीता ६ । १–२)

इसके सिवा यह भी गीतामें निर्विवाद सिद्ध है कि सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा स्वरूपसे त्याग कभी हो भी नहीं सकता ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
(गीता ३ । ५)

यदि कोई कुछ त्याग भी करे तो गीताने उसे तामसी त्याग माना है ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥
(१८ । ७)

और केवल उस स्वरूपसे बाहरी कर्मोंके त्यागसे सिद्धिकी प्राप्ति भी नहीं बतलायी ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
(गीता ३ । ४)

बल्कि इसीके अगले श्लोकमें वाणी और इन्द्रियोंसे भी हठपूर्वक कर्म न कर मनसे विषयचिन्तनकी निन्दा की है और उसे मिथ्याचार बतलाया है। (अ० ३ । ६) आगे चलकर वशमें की हुई इन्द्रियोंसे अनासक्त होकर कर्मयोगके आचरण करनेवालेको श्रेष्ठ बतलाया है। (अ० ३ । ७)

ऐसी अवस्थामें बाहरी कर्मोंके स्वरूपसे त्यागको ही संन्यास मान लेनेपर उसमें मुक्तिकी सम्भावना नहीं रहती और यदि मुक्ति नहीं होती तो भगवान्‌ने जो पाँचवें अध्यायमें कहा है—

"संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ"
(५ । २)

'कर्मोंका संन्यास और निष्काम कर्मयोग यह दोनों ही परम कल्याणप्रद हैं' इस सिद्धान्तमें बाधा आती है। क्योंकि केवल बाहरी कर्मोंका स्वरूपसे त्यागी तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार तामस त्यागी कहा गया है।

यहाँका यह 'निःश्रेयस' और तीसरे अध्यायके चतुर्थ श्लोकका

'सिद्धिम्' शब्द दोनों ही कल्याणवाची हैं। यदि उस सिद्धिको मुक्तिका वाचक न मानकर नीची अवस्थाका मानते हैं तो केवल कर्मत्यागसे कल्याण न होनेका पक्ष और भी पुष्ट होता है; जब नीची श्रेणीकी सिद्धि ही कर्मत्यागसे नहीं मिलती, तब मोक्षरूप परम सिद्धि तो कैसे मिल सकती है ? इन सब बातोंका विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि गीतामें संन्यास शब्द ज्ञानयोगका वाचक है और इसका सम्बन्ध अन्तःकरणके भावोंसे ही है किसी बाहरी अवस्थाविशेषसे नहीं ! न किसी वर्ण या आश्रमसे ही इसका सम्बन्ध सिद्ध होता है, यह तो भगवत्-प्राप्तिका एक परम साधन है, जो सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें काममें लाया जा सकता है।

लोगोंकी यह मान्यता है कि, सांख्यनिष्ठाका अधिकार केवल संन्यास-आश्रममें ही है, ठीक नहीं मालूम होती। यदि ऐसा होता तो भगवान्‌के द्वारा दिये हुए सांख्यनिष्ठाके विस्तृत उपदेशमें जो गीताके द्वितीय अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक है युद्धके लिये अर्जुनको उत्साहित नहीं किया जाता (देखो गीता २। १८)। तथा अष्टादश अध्यायमें जब त्याग और संन्यासका स्वरूप जाननेकी जिज्ञासासे अर्जुनने भगवान्‌से स्पष्टरूपसे प्रश्न किया तब भगवान्‌ने पहले त्यागका स्वरूप 'फलासक्ति-त्याग' बतलाकर (देखो अ० १८ श्लोक ९ से ११) फिर सांख्य याने संन्यासका सिद्धान्त सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हुए आगे चलकर यह स्पष्ट कहा है कि पाँच कारणोंसे होनेवाले प्राकृतिक कर्मोंमें जो अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता

मानता है वह दुर्मति आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं देखता याने कर्तापनका अहंकार रखनेवाला सांख्ययोगी नहीं है। सांख्ययोगी वही है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
(१८।१७)

'जिसके 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं रहता और जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें कभी लिप्त नहीं होती' अतएव अहंकारका त्याग ही संन्यास है। स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको भगवान् संन्यास मानते तो मनसे त्याग करनेकी बात नहीं कहते (देखो अ० ५।१३)।

इससे यह सिद्ध होता है कि सांख्य अथवा संन्यास कर्मोंके स्वरूपसे त्यागका नाम नहीं है और संन्यासके समान ही निष्काम कर्मयोग भी मुक्तिका प्रत्यक्ष हेतु है।

(२) द्वितीय पक्षके अनुसार यदि यह माना जाय कि गीतामें केवल निष्काम कर्मयोगका ही वर्णन है और संन्यास शब्दका भी समावेश इसीमें होता है तो यह बात भी ठीक नहीं जँचती; क्योंकि अर्जुनकी शंकाओंका निराकरण करते हुए भगवान्ने दोनों निष्ठाओंका अधिकारी-भेदसे स्वतन्त्र वर्णन किया है।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।
(अ० ३।३)

दूसरी अध्यायमें तो इन दोनों निष्ठाओंका सविभाग पृथक् पृथक् वर्णन है। सांख्ययोगका वर्णन कर चुकनेके बाद भगवान्ने कहा है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।

(गीता २ । ३९)

'यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और इसीको (अब) निष्काम कर्मयोगके विषयमें सुन !' ऐसे और भी अनेक वचन हैं जिनसे दोनों निष्ठाओंका स्वतन्त्र वर्णन सिद्ध होता है (देखो गीता अ० ५ श्लोक १ से ५) इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों निष्ठाओंका फलरूपसे पर्यवसान एक परमात्मामें ही है परन्तु दोनोंका स्वरूप सर्वथा भिन्न है, दोनों निष्ठाओंके साधकोंकी कार्य और विचारशैली तथा दोनोंके भाव और पथ सर्वथा भिन्न हैं । निष्काम कर्मयोगी साधन-कालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वर-परायण हो ईश्वरार्पणबुद्धिसे ही सब कर्म करता है (देखो गी० ३ । ३०; ४ । २०; ५ । १०; ९ । २७–२८; १२ । ११–१२; १८ । ५६–५७ ।)

परन्तु सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है। (देखो गीता ३ । २८; ५।८–९, १३; ६ । ३१; १३ । २९–३०; १४ । १९–२०; १८ । १७, ४९–५५) ।

निष्काम कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५ । ११) सांख्ययोगी अपनेको कर्ता नहीं मानता (५ । ८–९) ।

निष्काम कर्मयोगी अपनेद्वारा किये कर्मोंके फलको भगवदर्पण करता है (९ । २७–२८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८ । १७) । निष्काम कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे भिन्न मानता है । (१२ । ६–७), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (६ । २९–३१; ७ । १९; १८ । २०) । निष्काम कर्मयोगी, प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८ । ९, ६१) । सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नहीं मानता (१३ । ३०), यदि कहीं कुछ मानता हुआ देखा जाता है तो वह केवल दूसरोंको समझानेके लिये अध्यारोपसे, यथार्थमें नहीं । वह प्रकृतिको मायामात्र मानता है वस्तुतः कुछ भी नहीं मानता, निष्काम कर्मयोगी कर्मोंसे फल उत्पन्न हुआ करता है ऐसा समझता हुआ अपनेको फल और आसक्तिका त्यागी समझता है, फल और कर्मकी अलग-अलग सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न तो कर्म और फलोंकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है, निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है, सांख्ययोगीके अन्तःकरण और शरीरद्वारा कर्म स्वभावसे ही होते हैं वह करता नहीं (५ । १४) । निष्काम कर्मयोगीकी मुक्तिमें हेतु उसका विशुद्ध निष्कामभाव, भगवत्-शरणागति और भगवत्कृपा है (२ । ५१; १८ । ५६), सांख्ययोगीकी मुक्तिमें हेतु एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्न भावसे निरन्तर गाढ़ स्थिति है (५ । १७, २४) । इसलिये फलमें अविरोध होते हुए भी दोनों साधनोंमें परस्पर बड़ा भेद है और दोनों सर्वथा स्वतन्त्र हैं । इसमें कोई

सन्देह नहीं कि श्रीभगवान्ने अर्जुनके प्रति उसके उपयुक्त समझकर भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगके लिये ही आज्ञा दी है परन्तु गीतामें सांख्य-निष्ठाका वर्णन भी कम विस्तारसे नहीं है, स्थान-स्थानपर भगवान्ने सांख्यनिष्ठाकी बड़ी प्रशंसा की है। कर्मयोगका विशेषत्व इसीलिये बतलाया है कि वह सुगम है और उसका साधन देहाभिमानी भी कर सकता है परन्तु सांख्ययोग इसकी अपेक्षा बड़ा कठिन है (देखो गीता अ० ५। ६)। इससे यह सिद्ध होता है कि गीतामें दोनों ही निष्ठाओंका वर्णन है। न केवल कर्मयोगका ही प्रतिपादन किया गया है और न केवल सांख्ययोगका ही और न संन्यास शब्दका समावेश कर्मयोगमें ही होता है।

इस विवेचनसे यह पता लग जाता है कि गीतामें दोनों निष्ठाओंका वर्णन है और उनमें सांख्य या संन्यासका अर्थ कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है।

(३) अब तीसरे पक्षके सिद्धान्तोंपर विचार करनेसे यह विश्वास होता है कि इसके सिद्धान्त अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही हैं। वास्तवमें संन्यास शब्दका अर्थ गीतामें सांख्य या ज्ञानयोग ही माना गया है। संन्यास, सांख्ययोग, ज्ञानयोग आदि शब्दोंसे एक ही निष्ठाका वर्णन है। गीताके अध्याय १८ में ४९ से ५५ वें श्लोकतक इसी ज्ञाननिष्ठाका विस्तृत वर्णन है। ४९ वें श्लोकमें *'परमां नैष्कर्म्यसिद्धिम्'* का प्राप्त होना जिस संन्याससे बतलाया गया है वह संन्यास ज्ञानयोग ही है। इन श्लोकोंके विवेचनसे पता लगता है कि अभेदरूपसे परब्रह्म परमात्माका जो

ध्यान किया जाता है और उस ध्यानका जो फल होता है उसीको परा भक्ति कहते हैं और वही इस ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है। इस प्रकारके ज्ञानयोगका साधक सम्पूर्ण संसारके पदार्थों और कर्मोंको त्रिगुणमयी मायाका ही विस्तार समझता हुआ अपनेको द्रष्टा साक्षी मानता है (१४ । १९–२०) और वह ब्रह्मसे नित्य अभिन्न होकर ब्रह्ममें ही विचरता है (५ । २६ ; ६ । ३१)। वह सम्पूर्ण कर्मोंका विस्तार मायामें ही देखता है (देखो गीता ३ । २७–२८) वह शरीर और मन इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका अत्यन्त अभाव समझता है। इन्द्रियाँ ही अपने विषयोंमें विचरती हैं, आत्मा इनसे अत्यन्त परे और भिन्न है इस तरह समझकर साधनकालमें भी वह अपनेमें कर्तृत्व भावको नहीं देखता परन्तु मायाकी जगह भी वह एक ब्रह्मका ही विस्तार समझता है और यों समझनेसे उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं रह जाती। सम्पूर्ण संसारको वह एक ब्रह्मका ही कार्यरूप देखता है। साधन-कालमें प्रकृति और उसके कार्योंको आत्मासे भिन्न, अनित्य और क्षणिक देखता हुआ तथा अपनेको अकर्ता, अभोक्ता मानकर एक आत्माको ही सब जगह व्यापक समझकर साधनमें रत रहता है और अन्तमें जब एक ब्रह्मसत्ताके सिवाय और सबका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब वह उस अनिर्वचनीय परमपदको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं। मन बुद्धि अन्तः-करणादि भी ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं एक वासुदेवके भिन्न कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती। (गीता ५ । १७; ७ । १९)

वह इस चराचर संसारके बाहर-भीतर और चराचरको भी-परब्रह्म परमात्माका रूप ही समझता है। (देखो गीता १३ ।१५)

ऐसे पुरुषके द्वारा साधन और सिद्धकालमें लोकदृष्टिसे कर्म तो बन सकते हैं परन्तु उन सर्व कर्मोंमें और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक ब्रह्मसे भिन्न दृष्टि न रहनेके कारण तथा कर्तापनके अभावसे उसके वे कर्म, कर्म नहीं समझे जाते। (देखो गीता १८।१७)

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि तीसरे पक्षके सिद्धान्तानुसार गीताका संन्यास, संन्यास-आश्रम नहीं है परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर एक सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ऐक्यभावसे नित्य स्थित रहना ही है और इसीलिये उसका उपयोग सभी वर्ण और आश्रमोंमें किया जा सकता है। इसीका नाम ज्ञानयोग है। इसीको सांख्ययोग कहते हैं। और यही गीतोक्त संन्यास है।

इसीके साथ-साथ यह भी ठीक है कि गीतामें कर्मयोग-नामक एक दूसरे स्वतन्त्र साधनका भी विस्तृत वर्णन है जिसमें साधक, फल और आसक्तिको त्यागकर भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवत्-अर्थ समत्व-बुद्धिसे कर्म करता है। यही कर्मयोग गीतामें समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म और मत्कर्म आदि नामोंसे कहा गया है। इस निष्काम कर्मयोगमें भी भक्तिप्रधान कर्मयोग मुख्य है और इसीसे साधकको शीघ्र सिद्धि मिलती है। (६ । ४७)

इस प्रकार दोनों निष्ठाओंकी सिद्धि होती है। इससे कोई

यह न समझे कि मैं शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रमका विरोध करता हूँ या संन्यास-आश्रममें स्थित पुरुषकी सम्यक् ज्ञानके द्वारा मुक्ति नहीं मानता परन्तु मेरी समझसे गीताका संन्यास किसी आश्रमविशेषपर लक्ष्य नहीं रखकर केवल ज्ञानपर अवलम्बित है अतएव गीतामें सबका ही अधिकार है ।

मैं तो यह भी मानता हूँ कि सांख्यनिष्ठाके साधकको संन्यास-आश्रममें अधिक सुविधाएँ हैं । अस्तु ।

कुछ लोगोंके मतमें गीताका सांख्य शब्द महर्षि कपिल-प्रणीत सांख्यदर्शनका वाचक है परन्तु विचार करनेपर वह बात उचित नहीं मालूम होती । गीताका सांख्य कपिलजीका सांख्यदर्शन नहीं है, इसका सम्बन्ध ज्ञानसे है । गीता अ० १३ । १९—२० में प्रकृति-पुरुष शब्द आते हैं जो सांख्यदर्शनसे मिलते-जुलते-से लगते हैं परन्तु वास्तवमें इनमें बड़ा अन्तर है ।

सांख्यदर्शन पुरुष नाना और उनकी सत्ता भिन्न-भिन्न मानता है परन्तु गीता एक ही पुरुषके अनेक रूप मानती है । (देखो गीता अध्याय १३ । २२; १८ । २०) गीतामें भूतोंके पृथक्-पृथक् भाव एक ही पुरुषके भाव हैं । सांख्यदर्शन सृष्टिकर्ता ईश्वरको स्वीकार नहीं करता । परन्तु गीता सृष्टिकर्ता ईश्वरको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करती है । इससे यही सिद्ध होता है कि गीताका सांख्य महर्षि कपिलके सांख्यसे भिन्न है ।

एक बात और है । गीताका ध्यानयोग दोनों निष्ठाओंके साथ रहता है । इसीलिये भगवान्‌ने ध्यानयोगको पृथक् निष्ठाके रूपमें

नहीं कहा । ध्यानयोग, निष्काम कर्मके साथ भेदरूपसे रहता है और सांख्ययोगके साथ अभेदरूपसे रहता है। सांख्ययोग तो निरन्तर सच्चिदानन्दघन परमात्माका अनन्य भावसे ध्यान हुए बिना सिद्ध ही नहीं होता ।

इन दोनों निष्ठाओंके बिना केवल ध्यानयोगसे भी परमपदकी प्राप्ति हो सकती है ।

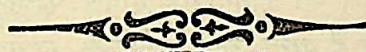
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

(गीता १३ । २४)

(इसके सिवा देखो ६ । ४-५, ६; १२ । ८)

परन्तु यह निष्ठा भिन्न नहीं समझी जाती क्योंकि अभेदरूपका ध्यान सांख्ययोग और भेदरूपका ध्यान कर्मयोग-विषयक समझा जा सकता है। ध्यानयोगका साधन अलग इसीलिये बतलाया गया है कि यह कर्मोंकी और कर्मोंके त्यागकी अपेक्षा नहीं रखता परन्तु दोनोंका सहायक हो सकता है ! कर्मोंके आश्रय या त्याग किये बिना भी केवल ध्यानयोगसे ही मुक्ति हो सकती है ।

यह साधन परमोपयोगी और स्वतन्त्र होते हुए भी निष्ठारूपसे अलग नहीं माना गया है । अतएव साधकोंको चाहिये कि वे अपने-अपने अधिकारानुसार ध्यानयोगसहित दोनों निष्ठाओंमेंसे किसी एकका अवलम्बनकर भगवत्प्राप्तिके लिये प्रयत्न करें ।



गीतोक्त
निष्काम-कर्मयोगका स्वरूप।





'गीताका निष्काम-कर्मयोग भक्तिमिश्रित है या भक्ति-रहित ? यदि भक्तिमिश्रित है, तो उसका क्या स्वरूप है ?'

इस प्रश्नपर विचार करते समय आरम्भमें कर्मोंके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंपर कुछ सोच लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। कर्म कई प्रकारके हैं, जिनको हम प्रधानतया तीन भागोंमें बाँट सकते हैं। निषिद्धकर्म, काम्यकर्म और कर्तव्यकर्म।

चोरी, व्यभिचार, हिंसा, असत्य, कपट, छल, जबरदस्ती, अभक्ष्य-भक्षण और प्रमादादिको निषिद्धकर्म कहते हैं।

स्त्री, पुत्र, धनादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये एवं रोग-सङ्कटादिकी निवृत्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंको काम्यकर्म कहते हैं।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, यज्ञ, दान, तप, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, वर्ण तथा आश्रमके धर्म और शरीर-सम्बन्धीय खान-पानादि कर्मोंको कर्तव्यकर्म कहते हैं।

'कर्तव्यकर्म' भी कामनायुक्त होनेसे काम्यकर्मोंके अन्तर्गत समझे जा सकते हैं परन्तु उनमें वर्णाश्रमके स्वाभाविक धर्म तथा

जीविकाके कर्म भी सम्मिलित हैं इसलिये उनके पालन करनेकी मनुष्यपर विशेष जिम्मेवारी रहती है। किसी खास विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त काम्यकर्म करना-न-करना अपनी इच्छापर निर्भर रहता है इसीलिये इनका अलग-अलग भेद है।

इन तीन प्रकारके कर्मोंमें निषिद्धकर्म तो सभीके लिये सर्वथा त्याज्य हैं। मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंके लिये काम्यकर्मोंकी कोई आवश्यकता नहीं, रहे 'कर्तव्यकर्म' जो भावोंके भेदसे सकाम और निष्काम दोनों ही होते हैं। जबसे—

सकाम-कर्म—

—के अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा होती है, तबसे आरम्भ-कर कर्मकी समाप्तिके बाद चिरकालतक मनमें केवल फलका अनुसन्धान रहता है। ऐसे कर्म करनेवालेकी चित्त-वृत्तियाँ पद-पदपर अपने लक्ष्य, फलको विषय करती रहती हैं। यदि धनके लिये कर्म होता है, तो उसे पल-पलमें उसी धनकी स्मृति होती है। उसका चित्त धनाकार बना रहता है। कर्मकी सिद्धिमें जब उसे धन मिलता है, तब वह हर्षित होता है और जब असिद्धि होती है, धन नहीं मिलता या अन्य कोई बाधा आ जाती है, तब उसे बड़ा क्लेश होता है। उसका चित्त फलानुसन्धानवाला होनेके कारण प्रायः निरन्तर व्यथित और अशान्त रहता है। ऐसे पुरुषका विषयविमोहित चित्त किसी-किसी समय उसे निषिद्धकर्मोंके करनेमें भी प्रवृत्त कर सकता है। यद्यपि शास्त्रकी आज्ञानुसार कर्मोंका आचरण करनेवाला सकामी पुरुष निषिद्धकर्मोंका आचरण करना

नहीं चाहता, तथापि विषयोंका लोभ बना रहनेके कारण उसके गिर जानेका भय बना ही रहता है। कहीं कर्ममें कुछ भूल हो जाती है, तो उसे सिद्धि तो मिलती ही नहीं, उलटे प्रायश्चित्त या दुःखका भागी होना पड़ता है। परन्तु—

निष्काम-कर्म—

—का आचरण करनेवाले पुरुषकी स्थिति सकामीसे अत्यन्त विलक्षण होती है। उसके मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नहीं रहती, वह जो कुछ कर्म करता है, सो सब फलकी इच्छाको छोड़कर आसक्तिरहित होकर करता है। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि 'यदि उसे फलकी इच्छा नहीं है तो वह कर्म करता ही क्यों है ? संसारमें साधारण मनुष्य बिना किसी हेतुके कर्म कर ही नहीं सकता और हेतु किसी-न-किसी फलका ही होता है। ऐसी स्थितिमें फलकी इच्छा बिना कर्मोंका होना सिद्ध नहीं होता।' यह ठीक है! साधारण मनुष्यके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेमें किसी-न-किसी हेतुका रहना अनिवार्य है परन्तु हेतुके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। सकामभावसे कर्म करनेवाला पुरुष भिन्न-भिन्न फलोंकी कामनासे नाना प्रकारके कर्मोंको करता है, उसके कर्मोंमें हेतु है 'विषय-कामना।' और इसीलिये वह आसक्त होकर कर्म करता है, उसकी बुद्धि कामनाओंसे ढकी रहती है (देखो गीता २। ४२, ४३, ४४; ९। २०, २१) इसीलिये वह कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें सुखी और दुःखी होता है परन्तु निष्कामभावसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्मोंमें हेतु रह

जाता है एक 'परमात्माकी प्राप्ति !' * इसीलिये वह नित्य नये उत्साहसे आलस्यरहित होकर कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, सांसारिक फल-कामना न होनेसे वह आसक्त नहीं होता और कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें उसे हर्ष-शोकका विकार नहीं होता, क्योंकि उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो गया है, वह कर्मके बाहरी फलपर कोई खयाल नहीं करता; उसकी दृष्टिमें संसारके समस्त पदार्थ उस परमात्माके सामने अत्यन्त तुच्छ, मलिन और क्षुद्र प्रतीत होते हैं, वह उस महान्-से-महान् परमात्माकी प्राप्तिकी शुभेच्छामें जगत्के संपूर्ण बड़े-से-बड़े पदार्थोंको तुच्छ समझता है (गीता २ । ४९)

इसीसे सांसारिक विषयरूप फलोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें उसे हर्ष-शोक नहीं होता । सकामी पुरुषकी भाँति उससे निषिद्ध कर्म बननेकी भी सम्भावना नहीं रहती । निषिद्ध कर्मोंमें कारण है 'आसक्ति या लोभ' निष्कामी पुरुष जगत्के समस्त पदार्थोंका लोभ छोड़कर उनसे अनासक्त होना चाहता है, वह श्रीपरमात्माको ही एकमात्र लोभकी वस्तु मानता है, उसीमें उसका मन आसक्त हो जाता है अतएव उसकी प्राप्तिके अनुकूल जितने कार्य होते हैं वह उन सबको बड़े उत्साहके साथ करता है । यह निर्विवाद बात है कि परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल तो वे ही कार्य हो सकते हैं जिनके लिये भगवान्ने आज्ञा दी है, जो शास्त्रविहित हैं, जो किसीके लिये किसी प्रकारसे भी अनिष्टकारक नहीं होते, ऐसे कर्मोंमें निषिद्ध-

---

* निष्काम-कर्मयोगीकी परमात्माको प्राप्त करनेकी कामना परिणाममें परम कल्याणका हेतु होनेके कारण कामना नहीं समझी जाती, भगवत्प्राप्तिकी कामनावाला पुरुष निष्काम ही समझा जाता है ।

कर्मोंका समावेश किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, इसीलिये निष्कामी पुरुष सकामी पुरुषसे सर्वथा विलक्षण होता है।

सकामी पुरुष जगत्के पदार्थोंको रमणीय, सुखप्रद और प्रीतिकर समझकर उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे, सिद्धिमें सुख और असिद्धिमें दुःख होनेकी प्रत्यक्ष भावनाको लेकर ममतायुक्त मनसे आसक्तिपूर्वक कर्म करता है और निष्कामी पुरुष सब कुछ भगवान्का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव रखता हुआ आसक्ति और फलकी इच्छाको त्यागकर भगवान्की आज्ञानुसार भगवान्के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है। यही सकाम और निष्काम-कर्ममें भावका अन्तर है।

गीतामें निष्काम-कर्मका आरम्भ—

—दूसरी अध्यायके ३९ वें श्लोकसे आरम्भ होता है। ११ से ३० वें श्लोकतक सांख्ययोगका प्रतिपादन करनेके बाद ३१ वें श्लोकसे क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करते हुए ३८ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

मोहके कारण पाप-भयसे भीत अर्जुनको सुख-दुःख, जय-पराजय और लाभ-हानिरूप सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखनेसे कोई पाप नहीं होनेकी बुद्धि सांख्यके सिद्धान्तानुसार बतलाकर अगले श्लोकसे निष्काम-कर्मयोगका प्रतिपादन आरम्भ करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
(गीता २ । ३९)

'हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब इसीको निष्काम-कर्मयोगके विषयमें तू सुन । इस बुद्धिसे युक्त होकर कर्म करनेसे कर्म-बन्धनका भली भाँति नाश कर सकेगा ।'

इसके बादके श्लोकमें निष्काम-कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने जरा-से भी निष्काम-कर्मयोगरूपी धर्मको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाया । आगे चलकर ४७ वें श्लोकमें कर्मका अधिकार और फलका अनधिकार वर्णन करते हुए ४८ वें श्लोकमें भगवान्‌ने, जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने-न-होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम ही 'समत्व' है और इस समत्वभावका कर्मके साथ योग होनेसे ही वह कर्मयोग बन जाता है, ऐसा कहते हुए अर्जुनको आसक्ति त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी और आगे उसका फल बतलाया 'जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय अमृतमय परमपद परमात्माकी प्राप्ति हो जाना' (देखो गीता २ । ५१)

इस प्रकार भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ४७से५१ वें श्लोकतक कर्म-योगका विवेचन किया, यद्यपि इस विवेचनमें स्पष्टरूपसे भक्तिका नाम कहीं नहीं आया परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह कर्मयोग भक्तिशून्य है । मेरी समझसे गीताका निष्काम-कर्म-योग सर्वथा भक्तिमिश्रित है । इतना अवश्य है कि कहीं-कहींपर

तो उसका भाव प्रधानरूपसे अच्छी तरह व्यक्त हो गया है और कहीं-कहींपर वह गौण होकर अव्यक्तरूपसे निहित है। परमात्माके अस्तित्व और उसे प्राप्त करनेकी शुभ भावना तो सामान्यरूपसे कर्मयोगके प्रत्येक उपदेशमें बनी हुई है। निष्काम-कर्मका आचरण ही तभीसे आरम्भ होता है जबसे साधक अपने मनमें परमात्माको पानेकी शुभ और दृढ़ भावनाको लेकर संसारके भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकका विचार छोड़कर फलासक्तिका त्याग कर देना चाहता है।

जो कर्म भगवान्‌की प्रीति या प्राप्तिके लिये नहीं होते उनका तो नाम ही कर्मयोग नहीं होता। कर्मयोग नाम तभी सफल होता है जब कर्मोंका योग परमात्माके साथ कर दिया जाता है। अवश्य ही गीतामें कर्मयोगकी वर्णनशैली दो प्रकारकी है। किसी-किसी श्लोकमें तो भक्ति प्रधानरूपसे स्पष्ट प्रकट है, किसी-किसीमें वह अप्रकटरूपसे स्थित है।

जहाँ भक्तिका प्रधानरूपसे कथन है वहाँ 'मुझमें अर्पण करके' 'परमात्मामें अर्पण करके' 'मेरा स्मरण करता हुआ कर्म कर' 'सब कुछ मेरे अर्पण कर' 'मदर्थ कर्म कर' 'स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा कर' 'मेरे आश्रय होकर कर्म कर' 'मेरे परायण हो' आदि वाक्य आये हैं (देखो गीता ३।३०; ५।१०; ८।७; ९।२७-२८; १२।६, १०, ११; १८।४६, ५६, ५७ इत्यादि) जहाँ भक्तिका सामान्य भावसे अप्रकट विवेचन है वहाँ ऐसे शब्द नहीं आते (देखो गीता २। ४७-४८, ४९-५०, ५१; ३।७, १९; ४।१४; ६।१; १८।६, ९ इत्यादि)

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवत्-भावना दोनों ही वर्णनोंमें है और इसीलिये भगवन्नाम, भगवत्-शरण और भगवदर्थ आदि भावोंके पर्यायवाची शब्द जिन श्लोकोंमें स्पष्ट नहीं आते उनके अनुसार आचरण करनेसे भी जीवको भगवत्प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि उसका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही होता है; इसमें सन्देह नहीं कि कर्मयोगके साथ स्मरण-कीर्तनादि भक्तिका संयोग कर देनेपर भगवत्-प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है और सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें ऐसे ही योगी पुरुष उत्तम समझे जाते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(गीता ६ । ४७)

भगवान् कहते हैं—

सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है वही मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।

जो इस भावसे स्पष्टरूपमें भक्तिका संयोग नहीं करते उनको भी कर्मयोगसे भगवत्-प्राप्ति तो होती है परन्तु बहुत विलम्बसे होती है । (देखो गीता ४ । ३८; ६ । ४५)

गीतामें निष्काम-कर्मयोगका वर्णन 'समत्वयोग' 'बुद्धियोग' 'कर्मयोग' 'तदर्थकर्म' 'मदर्थकर्म' 'मदर्पण' 'मत्कर्म' और 'सात्त्विक त्याग' आदि अनेक नामोंसे किया गया है । इन सबका फल एक होनेपर भी इनके साधनकी क्रियाओंमें भेद है, उदाहरणार्थ यहाँ—

मदर्पण और मदर्थका भेद—

—कुछ अंशमें बतलाया जाता है । मदर्पण या भगवदर्पण एक है तथा मदर्थ, तदर्थ या भगवदर्थ एक है । इनमें मदर्पण

कर्मका स्वरूप तो यह है कि जैसे एक आदमी किसी दूसरे उद्देश्यसे कुछ धन संग्रह कर रहा है और उसके पास पहलेसे कुछ धन संग्रहीत भी है परन्तु वह जब चाहे तब अपने धन-संग्रहका उद्देश्य बदल सकता है और संग्रहीत धन किसीको भी अर्पण कर सकता है। कर्मका आरम्भ करनेके बाद बीचमें या कर्मके पूरे होनेपर भी उसका अर्पण हो सकता है। भक्तराज ध्रुवजी महाराजने राज्य-प्राप्तिके लिये तपरूपी कर्मका आरम्भ किया था परन्तु बीचमें ही उनकी भावना बदल गयी, उनका तपरूपी कर्म भगवदर्पण हो गया, जिसका फल भगवत्-प्राप्ति हुआ।

साथ ही आरम्भकी इच्छानुसार उन्हें राज्य भी मिल गया परन्तु वह राज्य साधारण लोगोंकी तरहसे बाधक नहीं हुआ। यह भगवदर्पण कर्मकी महिमा समझनी चाहिये। अतएव आरम्भमें दूसरा उद्देश्य होनेपर भी जो कर्म बीचमें या पीछेसे भगवान्के अर्पण कर दिया जाता है वह भी भगवदर्पण हो जाता है।

मदर्थ या भगवदर्थ कर्ममें ऐसा नहीं होता, वह तो आरम्भसे ही भगवान्के लिये ही किया जाता है। किसी देवताके उद्देश्यसे प्रसाद बनाना या ब्राह्मण-भोजनके लिये भोजनकी सामग्रियोंका संग्रह करना जैसे आरम्भसे ही एक निश्चित उद्देश्यको लेकर होता है उसी प्रकार भगवदर्थ कर्म करनेवाले साधकके प्रत्येक कर्मका आरम्भ श्रीभगवान्के उद्देश्यसे ही हुआ करता है। भगवदर्थ कर्मके कई भेद अवश्य हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिके प्रयोजनसे कर्म करना, भगवान्की आज्ञा मानकर कर्म करना, भगवत्सेवास्वरूप कर्मोंमें नियुक्त होना और भगवान्की प्राप्तिके लिये कर्ममें लगना आदि।

यह तो भक्तिप्रधान कर्मयोगकी बात हुई। इसके सिवा समत्वयोग, कर्मयोग और सात्त्विक त्याग आदि सब मिलते-जुलते-से ही वाक्य हैं। द्वितीय अध्यायमें ४७ से ५१ वें श्लोकतक जिसका कर्मयोग आदिके नामसे वर्णन है उसीका अठारहवें अध्यायमें ६ और ९ वें श्लोकमें त्यागके नामसे वर्णन है। वास्तवमें फल और आसक्तिका त्याग तो सभीमें रहता है। भक्तिप्रधान या कर्मप्रधान दोनों प्रकारका वर्णन निष्काम कर्मयोगके लिये ही है। इससे यह सिद्ध हो गया कि—

भगवत्प्राप्तिके लिये किये जानेवाला कर्म ही निष्काम-कर्मयोग है।

निष्काम-कर्मयोगीको परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्यकर्मों-को छोड़कर एकान्तमें भजन-ध्यान करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहती। यदि कोई करे तो कोई आपत्ति नहीं है। भजन-ध्यान तो सदा-सर्वदा ही परम श्रेष्ठ है। परन्तु एकान्तमें भजन-ध्यान न करके भी भगवच्चिन्तनसहित शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निरन्तर करता हुआ ही वह साधक परमात्माकी शरण और उसकी कृपा-से परमगतिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८।५६-५७)

'मेरे परायण हुआ निष्काम-कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है इसलिये सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम-कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

वास्तवमें कर्मोंकी क्रिया मनुष्यको नहीं बाँधती; फलकी इच्छा और आसक्तिसे ही उसका बन्धन होता है। फल और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमात्मासे सारे भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् जलसे बर्फकी भाँति व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिको ही अपना सर्वस्व मानकर पतिका ही चिन्तन करती हुई, पतिकी आज्ञानुसार, पतिके लिये ही मन, वाणी, शरीरसे नियत (अपने जिम्मे बँधे हुए) संसारके समस्त कर्मोंको करती हुई पतिकी प्रसन्नता प्राप्त करती है, इसी प्रकार

निष्काम-कर्मयोगी एक परमात्माको ही अपना सर्वस्व मानकर उसीका चिन्तन करता हुआ उसीकी आज्ञानुसार मन, वाणी, शरीरसे उस परमात्माके ही लिये अपने कर्तव्यकर्मका आचरणकर परमात्माकी प्रसन्नता और परमात्माको प्राप्त करता है।

समस्त चराचरमें—सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें—परमात्माको व्यापक समझकर, सभीको परमात्माका स्वरूप मानकर अपने कर्मोंद्वारा निष्काम-कर्मयोगी भक्त भगवान्‌की पूजा करता है। एक महा-राजाधिराज सम्राट्‌की प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं होती कि उसके सभी कर्मचारी एक ही प्रकारका कार्य करें, सभी दीवान बनें या सभी सेनापति हों। अपनी-अपनी योग्यतानुसार जिसके जिम्मे जो काम महाराजके द्वारा सौंपा हुआ है, उसे अपने उसी कामसे महाराजको सन्तुष्ट करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उसे चाहिये कि वह दूसरेके अच्छे-से-अच्छे कामकी ओर तनिक भी न ताककर प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपना काम कुशलताके साथ करे। राजदरबारका एक विद्वान् पण्डित वेदगान सुनाकर राजाको जितना प्रसन्न कर सकता है उतना ही महलोंमें झाड़ू देनेवाला राजाका परम आज्ञाकारी मामूली वेतनका नौकर भी महलोंकी सफाई-सुथराई रखकर कर सकता है। अपना कर्तव्यकर्म छोड़नेकी किसीको भी आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये स्वार्थ छोड़कर अपने कर्तव्यकर्म उस प्रभुके अर्पण करनेकी। यही अपने कर्मोंसे परमात्माकी पूजा है और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

निष्काम-कर्मयोगीका लक्ष्य रहता है केवल एक परमात्मा ! जैसे धनका लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममें धनकी प्राप्तिका उपाय ही सोचता है किसी तरह धन मिलना चाहिये केवल यही भाव उसके मनमें निरन्तर रहता है । जिस काममें रुपये लगते हैं, रुपये नहीं आते या उनके आनेमें कुछ बाधा होती है उस कामके वह समीप भी जाना नहीं चाहता । वह केवल उन्हीं कार्योंको करता है जो धनकी प्राप्तिके अनुकूल या सहायक होते हैं । इसी प्रकार निष्काम-कर्मयोगी भी 'आठ पहर चौंसठ घड़ी' मन, वाणी, शरीरद्वारा उन्हीं सब कर्मोंको करता है जो ईश्वरको सन्तुष्ट करनेवाले होते हैं। वह भूलकर भी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक चोरी-जारी, झूठ-कपट, मादक द्रव्यसेवन और अभक्ष्य-भक्षणादि निषिद्धकर्मोंको और व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले प्रमादादि कर्मोंको नहीं करता । करना तो दूर रहा, ऐसे कार्य उसे किसी तरह सुहाते ही नहीं ! वह निरन्तर उन्हीं न्याययुक्त और शास्त्रविहित कर्मोंके सोचने और करनेमें प्रवृत्त रहता है जो उसके चरम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल और उसमें सहायक होते हैं । वह दूसरेके सुहावने और मान-बड़ाईवाले कर्मोंकी ओर लोलुपदृष्टिसे कभी नहीं देखता । चुपचाप स्वाभाविक ही अपने कर्तव्यकर्मको करता चला जाता है । वह यह नहीं देखता कि अमुक कर्म छोटा है, अमुक बड़ा है; क्योंकि वह इस बातको जानता है कि कर्मोंका स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, उसमें हेतु है अन्तःकरणका भाव । भावसे ही मनुष्यका उत्थान और पतन होता है। इसीलिये वह दूसरेकी देखादेखी किसी भी ऐसे ऊँचे-से-ऊँचे कर्मको भी करना नहीं चाहता जो उसके लिये

विहित नहीं है । वह यह नहीं देखता कि मेरे कर्ममें अमुक दोष है, दूसरेका अमुक कर्म सर्वथा निर्दोष है । वह समझता है कि दूसरेके गुणयुक्त उत्तम धर्मकी अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म ही अपने लिये श्रेष्ठ और आचरण करने योग्य है । स्वधर्मके पालनसे मनुष्यको पाप नहीं लगता (देखो गीता १८ । ४७) आजकल इस निष्काम-कर्मके रहस्यको न समझकर ही लोग सबको एकाकार करनेकी व्यर्थ चेष्टामें लगे हुए हैं ।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

(गीता १८ । ४८)

'दोषयुक्त भी कर्तव्यकर्म नहीं त्यागना चाहिये क्योंकि धूमसे (ढकी हुई) अग्निके समान सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे ढके हुए होते हैं ।'

जो मनुष्य जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है उसके स्वाभाविक कर्म ही उसका स्वधर्म है, भारतवर्षकी सुव्यवस्थित वर्णव्यवस्था इसका परम आदर्श है । जो लोग इस वर्णव्यवस्थाको तोड़नेका प्रयत्न करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं, जगत्‌में भेद तो कभी मिट नहीं सकता, व्यवस्थामें विशृङ्खलता अवश्य ही हो सकती है जो और भी दुःखदायिनी होती है ।

जिस जाति या समुदायमें मनुष्य उत्पन्न होता है, जिन माता-पिताके रज-वीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर अपने

कर्तव्यको समझनेकी बुद्धि आनेतक जिन संस्कारोंमें उसका पालन-पोषण होता है प्रायः उसीके अनुकूल कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और उत्साह होता है। इसलिये वही उसका स्वभाव या प्रकृति समझी जाती है। और इस स्वभाव या प्रकृतिके अनुकूल विहित कर्मोंको ही गीतामें स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावजकर्म और स्वभावनियतकर्म आदि नामोंसे कहा है। साधक पुरुषका जन्म यदि व्यवस्थित वर्णयुक्त समाजमें हुआ हो तब तो उसे अपना सहजकर्म समझ लेनेमें बड़ी सुगमता है, ऐसा न होनेपर उपर्युक्त हेतुओंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वधर्म निश्चित कर लेना चाहिये।

बस, इसी स्वधर्मके अनुसार आसक्ति और स्वार्थरहित होकर अखिल जगत्में परमात्माको व्यापक समझकर सबकी सेवा करनेके भावसे अपना-अपना कर्तव्यकर्म मनुष्यको करना चाहिये।

एक वैश्य है, दूकानदारी करता है, व्यवसाय उसका कर्तव्य-कर्म है। परन्तु वह कर्तव्यकर्म, निष्काम-कर्मयोगकी श्रेणीमें तभी जा सकता है जब कि वह स्वार्थबुद्धिसे न होकर केवल परमात्मा-की सेवाके निर्मल भावसे हो। दूकानदारी छोड़कर जङ्गलमें जाने-की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है मनके भावोंको बदलनेकी। स्वार्थ और कामनाका कलङ्क धो डालनेकी। जिस दिन सांसारिक स्वार्थकी जगह मनमें परमात्माको स्थान मिल जाता है उसी दिन उसके वे कर्म, जो बन्धनके कारण थे, स्वरूपसे वैसे ही बने रह-कर भी परमात्माकी प्राप्तिके कारण बन जाते हैं।

पारा और संखिया अमृतका-सा काम दे सकता है यदि वह चतुर वैद्यके द्वारा शोधकर शुद्ध कर लिया जाय। जिस पारे या संखियेके प्रयोगसे मनुष्यकी मृत्यु होती है वही पारा या संखिया विषभागके निकल जानेपर अमृत बन जाता है। इसी प्रकार जहाँतक कर्मोंमें स्वार्थ और आसक्ति है वहींतक उनसे बन्धन या मृत्यु प्राप्त होती है, जिस दिन स्वार्थ और आसक्ति निकालकर कर्मोंकी शुद्धि कर ली जाती है उसी दिन वे अमृत बनकर मनुष्यको परमात्माका अमर पद प्रदान करनेमें कारण बन जाते हैं। इसीलिये किसी भी कर्तव्यकर्मके त्यागकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है बुद्धिको शुद्ध करनेकी ! एक मनुष्य सकामभावसे यज्ञ, दान, तप करता है और दूसरा एक मनुष्य केवल अपने वर्णका कर्म भिक्षा, युद्ध, व्यापार या सेवा करता है परन्तु करता है सबमें परमात्माको व्यापक समझकर, सबको सुख पहुँचाने और सबकी सेवा करनेके पवित्र भावसे, तो वह उस केवल यज्ञ, दान, तप करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके कामना न होनेके कारण सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रहता है और निरन्तर परमात्माकी भावना तथा परमात्माकी आज्ञाका ध्यान रहनेसे लोभ और आसक्ति भी पास नहीं आ सकते। लोभ और आसक्तिके अभावसे उसके द्वारा पाप या निषिद्धकर्मोंका होना तो सम्भव ही नहीं होता।

यहाँ मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञ, दान, तप नहीं करने चाहिये या ये क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा ही उत्तम हैं और अन्तःकरणकी शुद्धिमें तथा परमात्माकी प्राप्तिमें बड़े सहायक हैं,

परन्तु ऐसा होता है उनका प्रयोग निष्कामभावसे करनेपर ही। अतएव यहाँ जो कुछ लिखा गया है वह केवल निष्काम-कर्मयोगकी सच्ची महिमा बतलानेके लिये ही।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी सिद्ध हो गया कि निष्काम-कर्मयोगीसे जान-बूझकर तो पाप नहीं बन सकते परन्तु यदि कहीं भूल, स्वभाव, अज्ञान या भ्रमसे कोई पाप बन भी जाता है तो वह उसके लागू नहीं होता क्योंकि उसका उस कर्ममें कोई स्वार्थ नहीं है। स्वार्थरहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्ताको बाँध नहीं सकता (देखो गीता ४। १४; ५। १०) पक्षान्तरमें उसका प्रत्येक कार्य भगवदर्पण होनेके कारण वह परमात्माका सर्वथा कृपापात्र बन जाता है।

राजाके अनेक कर्मचारी होते हैं, सबको योग्यतानुसार वेतन मिलता है और सभीपर राजाके किसी-न-किसी कामकी जिम्मेवारी रहती है। परन्तु प्रत्येक वैतनिक कर्मचारी राजनियमोंसे बँधा हुआ रहता है, यदि भूल या अज्ञानसे भी किसी नियमको कोई कर्मचारी भङ्ग कर देता है तो उसे नियमानुसार दण्डका भागी होना पड़ता है। पर एक ऐसा मनुष्य जो किसी समय किसी प्रकारसे भी राज्य या राजासे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध न कर केवल अहैतुकी राजभक्तिके कारण राजसेवा करता है, उसकी निःस्वार्थ सेवापर राजा मुग्ध रहता है। उसके द्वारा यदि समयपर कोई अज्ञानसे भूल हो जाती है तब भी राजा उससे नाराज नहीं होता, राजा समझता है कि यह तो राज्यका निःस्वार्थ सेवक है ऐसा

सेवक यदि भूलके लिये दण्ड चाहता है तो राजा कहता है भाई ! हम तो तुम्हारे उपकारोंसे ही अत्यन्त दबे हुए हैं तुम्हारी एक भूलका तुम्हें क्या दण्ड दें । इतना ही नहीं बल्कि राजा उसके उपकारोंसे अपनेको उसका ऋणी समझकर सब तरहसे उसका हित ही करना चाहता है । इसी प्रकार जो परमात्माका निःस्वार्थ सेवक है, जो अपने प्रत्येक कर्मका समर्पण उस परमात्माकी प्रीतिके लिये उसीके चरणोंमें कर देता है, उससे यदि कोई भूल होती है तो उसपर अकारण सुहृद् परमात्मा कोई ध्यान नहीं देते । यह अनियम नहीं है किन्तु स्वार्थरहित सेवकके लिये यही नियम है।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्य कर्मोंका आचरण करता हुआ साधक शेषमें परमात्माको प्राप्त हो जाता है परन्तु ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्तके द्वारा भी लोकशिक्षाके लिये राजा जनकादिकी भाँति आजीवन कर्म हो सकते हैं । (देखो गीता ३ । २०) यद्यपि उनके लिये कोई कर्म शेष रह नहीं जाते (गीता ३ । १७) परन्तु जहाँतक मन और इन्द्रियाँ सचेत रहती हैं वहाँतक उनके लिये कर्म त्याग करनेमें कोई हेतु नहीं देखा जाता । किन्तु कर्मयोगकी सिद्धिको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होते हैं (देखो गीता २ । ५५ से ५८; १२ । १३ से १९) ।

ऐसे भगवत्को प्राप्त हुए महापुरुषके कर्म गीता तृतीय अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार केवल लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं और वे कर्म कामना और संकल्पसे शून्य होनेके कारण स्वरूप-

से होते हुए भी वास्तवमें कर्म नहीं समझे जाते (देखो गीता ४ । १९-२०) ।

इस प्रकार निष्काम-कर्मयोगका साधक परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर देनेके कारण अन्तमें परमात्माके प्रसादसे परमात्माको पा जाता है, जिस कर्ममें आदिसे लेकर अन्ततक परमात्माका इतना नित्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध है वह कर्म भक्तिरहित कभी नहीं हो सकता । अतएव गीताका निष्काम-कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है ।

—तथा—

'फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका करना ही उसका स्वरूप है ।'



धर्म क्या है ?



प्र०—कृपापूर्वक आप धर्मकी व्याख्या करें।

उ०—धर्मकी सच्ची व्याख्या कर सकें ऐसे पुरुष इस जमानेमें मिलने कठिन हैं।

प्र०—आप जैसा समझते हैं वैसा ही कहनेकी कृपा करें।

उ०—धर्मका विषय बड़ा गहन है, मुझको धर्मग्रन्थोंका बहुत कम ज्ञान है, वेदका तो मैंने प्रायः अध्ययन ही नहीं किया। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ ऐसी अवस्थामें धर्मका तत्त्व कहना एक बालकपन-सा है। इसके अतिरिक्त मैं जितना कुछ जानता हूँ उतना भी कह नहीं सकता, क्योंकि जितना जानता हूँ उतना स्वयं कार्यमें परिणत नहीं कर सकता।

प्र०—खैर, यह बतलाइये कि आप किसको धर्म मानते हैं ?

उ०—जो धारण करने योग्य है।

प्र०—धारण करने योग्य क्या है ?

उ०—इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाली महापुरुषोंद्वारा दी हुई शिक्षा।

प्र०—महापुरुष कौन हैं ?

उ०—परमात्माके तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाले तत्त्ववेत्ता पुरुष।

प्र०—उनके लक्षण क्या हैं ?

उ०—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(गीता १२। १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है।'

'जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मेरेमें दृढ निश्चयवाला है वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समानभाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है ।'

'जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

ये महापुरुषोंके लक्षण हैं ।

प्र०—इन लक्षणोंवाले कोई महापुरुष हिन्दूजातिमें आपकी जानकारीमें इस समय हैं ?

उ०—अवश्य हैं परन्तु मैं कह नहीं सकता ।

प्र०—आप हिन्दू किसको समझते हैं ?

उ०—जो अपनेको हिन्दू मानता हो, वही हिन्दू है ।

प्र०—हिन्दू शब्दका क्या अभिप्राय है ?

उ०—हिन्दुस्तान (आर्यावर्त) में जन्म होना और किसी हिन्दुस्तानी आचार्यके चलाये हुए मतको मानना ।

प्र०—सनातनी, आर्य, सिख, जैन, बौद्ध और ब्राह्म आदि भिन्न-भिन्न मतको माननेवाली तथा भारतकी जंगली जातियाँ क्या सभी हिन्दू हैं ?

उ०—यदि वे अपनेको हिन्दू मानती हों तो अवश्य हिन्दू हैं ।

प्र०—क्या सभी हिन्दुओंद्वारा चलाये हुए मत हिन्दू-धर्म माने जा सकते हैं ?

उ०—अवश्य ।

प्र०—आप इन सब मतोंमें सबसे प्रधान और श्रेयस्कर किस मतको मानते हैं ?

उ०—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मनका निग्रह, इन्द्रियदमन, तितिक्षा, श्रद्धा, क्षमा, वीरता, दया, तेज, सरलता, स्वार्थत्याग, अमानित्व, दम्भहीनता, अपैशुनता, निष्कपटता, विनय, धृति, सेवा, सत्संग, जप, ध्यान, निर्वैरता, निर्भयता, समता, निरहंकारता, मैत्री, दान, कर्तव्यपरायणता और शान्ति इन चालीस गुणोंमेंसे जिस मत-में जितने अधिक गुण हों वही मत सबसे प्रधान और श्रेयस्कर माना जाने योग्य है ।

प्र०—इन चालीसोंकी संक्षेपमें व्याख्या कर दें तो बड़ी कृपा हो !

उ०—अच्छी बात है, सुनिये ।

(१) *अहिंसा*—मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना ।

(२) *सत्य*—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया गया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना ।

(३) *अस्तेय*—किसी प्रकार भी चोरी न करना ।

(४) *ब्रह्मचर्य*—आठ प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना ।

(५) *अपरिग्रह*—ममत्व बुद्धिसे संग्रह न करना ।

(६) *शौच*—बाहर और भीतरकी पवित्रता ।

(७) *सन्तोष*—तृष्णाका सर्वथा अभाव ।

(८) *तप*—स्वधर्म-पालनके लिये कष्टसहन ।

(९) *स्वाध्याय*—पारमार्थिक ग्रन्थोंका अध्ययन और भगवान्के नाम तथा गुणोंका कीर्तन ।

(१०) *ईश्वरभक्ति*—भगवान्में श्रद्धा और प्रेम होना ।

(११) *ज्ञान*—सत् और असत् पदार्थका यथार्थ जानना ।

(१२) *वैराग्य*—इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव ।

(१३) *मनका निग्रह*—मनका वशमें होना ।

(१४) *इन्द्रियदमन*—समस्त इन्द्रियोंका वशमें होना ।

(१५) *तितिक्षा*—शीत, उष्ण और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सहनशीलता ।

(१६) *श्रद्धा*—वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षकी तरह विश्वास ।

(१७) *क्षमा*—अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना ।

(१८) *वीरता*—कायरताका सर्वथा अभाव ।

(१९) *दया*—किसी भी प्राणीको दुःखी देखकर हृदयका पिघल जाना ।

(२०) *तेज*—श्रेष्ठ पुरुषोंकी वह शक्ति, कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त नीचप्रकृति मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे हटकर श्रेष्ठ कर्मोंमें लग जाते हैं ।

(२१) *सरलता*—शरीर और इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणकी सरलता।

(२२) *स्वार्थत्याग*—किसी कार्यसे इस लोक या परलोकके किसी भी स्वार्थको न चाहना ।

(२३) *अमानित्व*—सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना ।

(२४) *दम्भहीनता*—धर्मध्वजीपन अर्थात् ढोंगका न होना ।

(२५) *अपैशुनता*—किसीकी भी निन्दा या चुगली न करना ।

(२६) *निष्कपटता*—अपने स्वार्थ-साधनके लिये किसी बातका भी छिपाव न करना ।

(२७) *विनय*—नम्रताका भाव ।

(२८) *धृति*—भारी विपत्ति आनेपर भी चलायमान न होना ।

(२९) *सेवा*—(सब भूतोंके हितमें रत रहना) समस्त जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी, शरीरद्वारा निरन्तर निःस्वार्थ-भावसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना ।

(३०) *सत्संग*—सन्त-महात्मा पुरुषोंका संग करना ।

(३१) *जप*—अपने इष्टदेवके नाम या मन्त्रका जप करना ।

(३२) *ध्यान* -अपने इष्टदेवका चिन्तन करना ।

(३३) *निर्वैरता*—अपने साथ वैर रखनेवालोंमें भी द्वेष-भाव न होना ।

(३४) *निर्भयता*—भयका सर्वथा अभाव ।

(३५) *समता*—मस्तक, पैर आदि अपने अंगोंकी तरह सबके साथ वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य बर्तावमें भेद रखनेपर भी आत्मस्वरूपसे सबको समभावसे देखना ।

(३६) *निरहंकारता*—मन, बुद्धि, शरीरादिमें 'मैं' पनका और उनसे होनेवाले कर्मोंमें कर्तापनका सर्वथा अभाव ।

(३७) *मैत्री*--प्राणीमात्रके साथ प्रेमभाव ।

(३८) *दान*—जिस देशमें जिस कालमें जिसको जिस वस्तुका अभाव हो उसको वह वस्तु प्रत्युपकार और फलकी इच्छा न रखकर हर्ष और सत्कारके साथ प्रदान करना ।

(३९) *कर्तव्यपरायणता*--अपने कर्तव्यमें तत्पर रहना ।

(४०) *शान्ति*--इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तःकरणमें निरन्तर प्रसन्नताका रहना ।

प्र०--आप वर्णाश्रम-धर्मको मानते हैं या नहीं ?

उ०--मानता हूँ और उसका पालन करना अच्छा समझता हूँ ।

प्र०--जो वर्णाश्रम-धर्मका पालन नहीं करते उनको क्या आप हिन्दू नहीं मानते ?

उ०--जब वे अपनेको हिन्दू मानते हैं तब उन्हें हिन्दू न माननेका मेरा क्या अधिकार है ? परन्तु वर्णाश्रम-धर्म न माननेवालों-की शास्त्रोंमें निन्दा की गयी है । अतएव वर्णाश्रम-धर्मको अवश्य मानना चाहिये ।

प्र०—आप वर्ण जन्मसे मानते हैं या कर्मसे ?

उ०—जन्म और कर्म दोनोंसे ।

प्र०—इन दोनोंमें आप प्रधान किसको मानते हैं ?

उ०- अपने-अपने स्थानमें दोनों ही प्रधान हैं ।

प्र०—वर्ण कितने हैं ?

उ०—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं ।

प्र०—ब्राह्मणके क्या कर्म हैं ?

उ०—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

(गीता १८ । ४२)

'अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इन्द्रियाँ और शरीरकी सरलता, आस्तिकबुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्वका अनुभव भी ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं यानी धर्म हैं ।'

इनके अतिरिक्त यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, विद्या पढ़ना, विद्या पढ़ाना ये कर्तव्यकर्म हैं । इनमें यज्ञ करना, दान देना और विद्या पढ़ना ये तीन तो सामान्य धर्म हैं; और यज्ञ कराना, दान लेना और विद्या पढ़ाना ये जीविकाके विशेष धर्म हैं ।

प्र०—ब्राह्मणकी जीविकाके सर्वोत्तम धर्म क्या हैं ?

उ०—किसानके अनाज घर ले जानेके बाद खेतमें और अनाजके क्रय-विक्रयके स्थानमें जमीनपर बिखरे हुए दानोंको बटोरकर उनसे शरीर-निर्वाह करना सर्वोत्तम है। इसीको ऋत और सत् कहा है। परन्तु यह प्रणाली नष्ट हो जानेके कारण इस जमानेमें इस प्रकार निर्वाह होना असम्भव-सा है। अतएव साधारण जीविकाके अनुसार ही निर्वाह करना चाहिये।

प्र०—साधारण जीविकामें कौन उत्तम है ?

उ०—बिना याचना किये जो अपने आपसे प्राप्त होता है वह पदार्थ सबसे उत्तम है, उसीको अमृत कहते हैं। नियत वेतनपर विद्या पढ़ाना और माँगकर दक्षिणा या दान लेना निन्द्य है। इनमें भी माँगकर दान लेनेको तो विषके सदृश कहा है।

प्र०—इस वृत्तिसे निर्वाह न हो तो ब्राह्मणको क्या करना चाहिये ?

उ०—क्षत्रियकी वृत्तिसे निर्वाह करे, उससे भी काम न चले तो वैश्य-वृत्तिसे जीविका चलावे। परन्तु दास-वृत्तिका अवलम्बन आपत्तिकालमें भी न करे।

प्र०—क्षत्रियके क्या कर्म हैं ?

उ०—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८। ४३)

'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।'

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
(मनुस्मृति १ । ८९)

'प्रजाकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयोंमें न लगना संक्षेपसे ये क्षत्रियके कर्म हैं ।'

इन्हींमेंसे प्रजाका पालन करना, सैनिक बनना, न्याय करना, कर लेना और शस्त्रोंद्वारा दूसरोंकी रक्षा करना इत्यादि जीविकाके कर्म हैं। दान देना, यज्ञ करना और विद्या पढ़ना ये सामान्य धर्म हैं।

प्र०—इन कर्मोंसे क्षत्रियकी जीविका न चले तो उसे क्या करना चाहिये ?

उ०—वैश्य-वृत्तिसे निर्वाह करे, उससे भी न चले तो शूद्र-वृत्तिसे काम चलावे ।

प्र०—वैश्यके क्या कर्म हैं ?

उ०—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
(मनुस्मृति १ । ९०)

'पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार, व्याज और खेती ये वैश्यके कर्म हैं ।'

पशुपालन, कृषि तथा सत् और पवित्र व्यापार ये स्वाभाविक और जीविकाके भी कर्म हैं । व्याज भी जीविकाका है परन्तु केवल व्याज उपजाना निन्द्य है। यज्ञ, दान और अध्ययन सामान्य धर्म हैं ।

प्र०—सत् और पवित्र व्यापार किसे कहते हैं, बताइये ?

उ०—दूसरेके हकपर नीयत न रखते हुए झूठ-कपटको छोड़कर न्यायपूर्वक पवित्र वस्तुओंका क्रय-विक्रय करना सत् और पवित्र व्यापार है * ।

प्र०—इनसे जीविका न चले तो वैश्यको क्या करना चाहिये ?

उ०—शूद्रवृत्तिसे काम चलावे परन्तु अपवित्र वस्तुओंका और सट्टेका व्यापार कभी न करना चाहिये ।

प्र०—कृपाकर अपवित्र वस्तुओंकी व्याख्या कीजिये ।

उ०—मद्य, मांस, हड्डी, चमड़ा, सींग, लाह, चपड़ा, नील इत्यादि शास्त्रवर्जित घृणित पदार्थ अपवित्र हैं ।

प्र०—शूद्रके क्या कर्म हैं ?

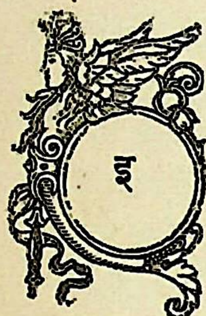
उ०—सेवा और कारीगरीके काम ही इनके स्वाभाविक और आजीविकाके कर्म हैं ।



* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है उसका नाम सत्य व्यवहार है ।

धर्म और उसका प्रचार





इस समय संसारकी प्रायः सभी जातियाँ न्यूनाधिक-रूपसे अपने-अपने धर्मकी उन्नति और उसके प्रचारके लिये अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार प्रयत्न कर रही हैं। इनमेंसे कुछ लोग तो अपने धर्मभावोंका सन्देश संसारके कोने-कोनेमें पहुँचा देना चाहते हैं और वे इसके लिये कोई काम भी उठा नहीं रखते। क्रिश्चियन मतका प्रचार करनेके लिये ईसाई जगत् कितनी धनराशिको पानीकी तरह बहा रहा है। अमेरिका-तकसे करोड़ों रुपये इस कार्यके लिये भारतवर्षमें आते हैं, लाखों ईसाई स्त्री-पुरुष सुदूरदेशोंमें जा-जाकर भाँति-भाँतिसे लोकसेवाकर तथा लोगोंको अनेक तरहसे लोभ-लालच देकर, फुसलाकर और उन्हें उलटी-सीधी बात समझाकर अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं।

कुछ भूले हुए लोग परधन, परस्त्री-अपहरण करने, धर्मके नामपर हिंसा करने और परधर्मीकी हत्या करनेको ही धर्म मान बैठे हैं और उसीका प्रचार करना चाहते हैं। इसी प्रकारके धर्मप्रचारसे चारों ओर अशान्ति और दुःखका विस्तार होता है। अपनी बुद्धिसे लोक-कल्याणके लिये जिस धर्मको अधिक उपयोगी समझा जाय, उसके प्रचारके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। इस न्यायसे

कोई भाई यदि वास्तवमें ऐसे ही शुद्ध भावसे प्रेरित होकर केवल लोक-कल्याणके लिये ही अपने धर्मका प्रचार करना चाहते हैं तो उनका यह कार्य अनुचित नहीं है, परन्तु उनके इस कार्यको देखकर हमलोगोंको क्या करना चाहिये—यह विषय विचारणीय है। मेरी समझसे एक हिन्दू-धर्म ही सब प्रकारसे पूर्ण धर्म है, जिसका चरम लक्ष्य मनुष्यको संसारके त्रितापानलसे मुक्तकर उसे अनन्त सुखकी शेष सीमातक पहुँचाकर सदाके लिये आनन्दमय बना देना है। इसी धर्मका पवित्र सन्देश प्राप्तकर समय-समयपर जगत्के दुःखदग्ध अशान्त प्राणी परम शान्तिको प्राप्त हो चुके हैं और आज भी जगत्के बड़े-बड़े भावुक पुरुष अत्यन्त उत्सुकताके साथ इसी सन्देशकी प्राप्तिके लिये लालायित हैं। जिस धर्मकी इतनी अपार महिमा है उसी अनादि कालसे प्रचलित पवित्र और गम्भीर-आशय धर्मको माननेवाली जाति मोहवश जगत्के अन्यान्य अपूर्ण मतोंका आश्रय ग्रहणकर अज्ञान-सरिताके प्रवाहमें बहना चाहती है, यह बड़े ही दुःखकी बात है!

यदि भारतने अपने चिरकालीन धर्मके पावन आदर्शको भूल-कर ऐहिक सुखोंकी व्यर्थ कल्पनाओंके पीछे उन्मत्त हो केवल काल्पनिक भौतिक, स्वर्गादि सुखोंको ही धर्मका ध्येय माननेवाले मतोंका अनुसरण आरम्भ कर दिया तो बड़े ही अनर्थकी सम्भावना है। इस अनर्थका सूत्रपात भी हो चला है। समय-समयपर इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। लोग प्रायः परमानन्द-प्राप्तिके ध्येयसे च्युत होकर केवल विविध प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके प्रयत्नको ही अपना कर्तव्य समझने लगे हैं। धर्मक्षयका यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम

देखकर भी यदि धर्मप्रेमी बन्धु धर्म-नाशसे उत्पन्न होनेवाली भयानक विपत्तियोंसे जातिको बचानेकी सन्तोषजनकरूपसे चेष्टा नहीं करते, यह बड़े ही परितापका विषय है !

इस समय हमारे देशमें अधिकांश लोग तो केवल धन, नाम और कीर्ति कमानेमें ही अपने दुर्लभ और अमूल्य जीवनको बिता रहे हैं । कुछ सज्जन स्वराज्य और सुधारके कार्योंमें लगे हैं, परन्तु उस सत्य धर्मके प्रचारक तो कोई विरले ही महात्माजन हैं । यद्यपि मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी कामना एवं स्वार्थपरताका परित्याग-कर स्वराज्य और समाज-सुधारके लिये प्रयत्न करनेसे भी सच्चे सुखकी प्राप्तिमें कुछ लाभ पहुँचता है, परन्तु भौतिक सुखोंकी चेष्टा वास्तवमें परम ध्येयको भुला ही देती है । सच्चे सुखकी प्राप्तिमें पूरी सहायता तो उस शान्तिप्रद सत्य धर्मके प्रचारसे ही मिल सकती है ।

यद्यपि मुझे संसारके मतमतान्तरोंका बहुत ही कम ज्ञान है, परन्तु साधारणरूपसे मेरा यह विश्वास है कि सबसे उत्तम सार्वभौम धर्म वह हो सकता है जिसका लक्ष्य महान्-से-महान्, नित्य और निर्बाधक आनन्दकी प्राप्ति हो और जिसमें सबका अधिकार हो । केवल ऐहिक सुख या स्वर्गसुख बतलानेवाला धर्म भी वास्तवमें बुद्धिमान्के लिये त्याज्य ही है अतएव सर्वोत्तम धर्म वह है जो परम कल्याणकी प्राप्ति करानेवाला होता है । ऐसा धर्म मेरी समझसे वह वैदिक सनातन धर्म ही है जिसका स्वरूप निम्नलिखितरूपसे शास्त्रोंमें कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

(गीता १६ । १, २, ३)

सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति* सात्त्विक दान† इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियों-सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण ‡ अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी

---

* परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे ध्यानकी निरन्तर गाढ़ स्थितिका ही नाम 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' समझना चाहिये ।

† गोविन्दभवनद्वारा प्रकाशित गीता अध्याय १७ श्लोक २० का अर्थ देखिये ।

‡ अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहनेका नाम सत्यभाषण है ।

चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज*, क्षमा, धैर्य, शौच अर्थात् बाहर और भीतरकी शुद्धि†, किसीमें भी शत्रुभावका न होना, अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण (ये) हैं।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६।९२)

धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका न करना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, यथार्थ भाषण और क्रोधका न करना, ये धर्मके दस लक्षण हैं।

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'

(योग० सा० २।३०)

अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन और भोग-सामग्रियोंका संग्रह न करना ये पाँच प्रकारके यम हैं।

---

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

† सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी तथा यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जलमृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं तथा रागद्वेष और कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कही जाती है।

'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'
(योग० सा० २।३२)

बाहर-भीतरकी पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करना ये पाँच प्रकारके नियम हैं। इन सबका निष्कामभावसे पालन करना ही सच्चा धर्माचरण है।

यही धर्मके सर्वोत्तम लक्षण हैं, इन्हींसे परमपदकी प्राप्ति होती है। अतएव जो सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्रकी सेवा करना चाहते हैं उन्हें उचित है कि वे उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मको ही उन्नतिका परम साधन समझकर स्वयं उसका आचरण करें और अपने दृष्टान्त तथा युक्तियोंके द्वारा इस धर्मका महत्त्व बतलाकर मनुष्यमात्रके हृदयमें इसके आचरणकी तीव्र अभिलाषा उत्पन्न कर दें। वास्तवमें यही सच्चा धर्मप्रचार है और इसीसे लौकिक अभ्युदयके साथ-ही-साथ देश-कालकी अवधिसे अतीत मुक्तिरूप परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष दुःखरूप संसारसागरमें पुनः लौटकर नहीं आता। ऐसे ही पुरुषोंके लिये श्रुति पुकारती है—

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'
(छान्दोग्य० ८।१५।१)

इस परम आनन्दका नित्य और मधुर आस्वाद मनुष्यमात्रको चखानेके लिये वैदिक सनातनधर्मका प्रचार करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको विशेषरूपसे करनी चाहिये।

कुछ सज्जनोंका मत है कि स्वराज्य और विपुल धनराशिके अभावसे धर्मप्रचार नहीं हो सकता; परन्तु मेरी समझसे उनका यह

मत सर्वथा ठीक नहीं है। राजनैतिक अधिकारोंकी प्राप्तिसे धर्म-प्रचार-में सहायता मिल सकती है, परन्तु यह बात नहीं कि स्वराज्यके अभावमें धर्मका प्रचार हो ही नहीं सकता। धर्मपालनसे बड़े-से-बड़ा आत्मिक स्वराज्य मिल सकता है, तब इस साधारण स्वराज्यकी तो बात ही कौन-सी है। वह तो अनायास ही प्राप्त हो सकता है।

धनकी भी धर्मके प्रचारमें आवश्यकता नहीं, सम्भव है कि इससे आंशिकरूपसे कुछ सहायता मिल जाय। इसमें प्रधान आवश्यकता सच्चे त्यागी और धर्मज्ञ प्रचारकोंकी है। ऐसे पुरुष मान, बड़ाई, प्रसिद्धि और स्वार्थको त्यागकर प्राणपणसे धर्मप्रचारके लिये कटिबद्ध हो जायँ तो उन्हें द्रव्यादि वस्तुओंकी तो कोई त्रुटि रह ही नहीं सकती परन्तु वे अपने प्रतिपक्षियोंपर भी प्रेमसे विजय प्राप्तकर उन्हें अपना मित्र बना ले सकते हैं। केवल संख्यावृद्धिके लिये ही लोभ—लालच देकर या फुसला-धमकाकर किसीका धर्म-परिवर्तन करना वास्तवमें उसके विशेष हितका हेतु नहीं हो सकता और न ऐसे स्वार्थयुक्त धर्म-प्रचारसे प्रचारकोंको ही विशेष लाभ होता है। जब मनुष्य धर्मके महत्त्वको स्वयं भलीभाँति समझकर उसका पालन करता है तभी उसे, उससे आनन्द और शान्ति मिलती है और इस प्रकार अपूर्व आनन्द और परम शान्ति अनुभव करके ही मनुष्य संसृतिमें फँसे हुए अशान्त, दुःखी जीवोंकी दयनीय स्थितिको देखकर करुणार्द्र-चित्तसे उन्हें शान्त और सुखी बनानेके लिये प्रयत्न करते हैं, यही सच्चा धर्मप्रचार है।

बड़े खेदकी बात है कि इस अपार आनन्दके प्रत्यक्ष सागरके होते हुए भी लोग दुःखरूप संसार-सागरमें मग्न हुए भीषण सन्तापको प्राप्त हो रहे हैं। मृगतृष्णासे परिश्रान्त और व्याकुल मृग-समूह जैसे

गङ्गाके तीरपर भी प्यासके मारे छटपटाकर मर जाते हैं वही दशा इस समय हमारे इन भाइयोंकी हो रही है ।

सत्य धर्मके पालनसे होनेवाली अपार आनन्दकी स्थितिको न समझनेके कारण ही मनुष्योंकी यह दशा हो रही है । अतएव ऐसे लोगोंको दयनीय समझकर उन्हें वैदिक सनातन-धर्मका तत्त्व समझानेकी चेष्टा करनेमें उनका उपकार और सच्चा सुधार है । इस धर्मको बतलानेवाले हमारे यहाँ अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिन सबका मनन और अनुशीलन करना कोई सहज बात नहीं । अतएव किसी एक ऐसे ग्रन्थका अवलम्बन करना उत्तम है जो सरलताके साथ मनुष्यको इस पावन पथपर ला सकता है । मेरी समझसे ऐसा पावन ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' है । बहुत थोड़ेसे सरल शब्दोंमें कठिन-से-कठिन सिद्धान्तोंको समझानेवाला, सब प्रकारके अधिकारियोंको उनके अधिकारानुसार उपयोगी मार्ग बतलानेवाला सच्चे धर्मका पथप्रदर्शक, पक्षपात और स्वार्थसे रहित उपदेशोंके अपूर्व संग्रहका यह एक ही सार्वभौम महान् ग्रन्थ है । जगत्के अधिकांश महानुभावोंने मुक्तकण्ठसे इस बातको स्वीकार किया है । गीतामें सैकड़ों ऐसे श्लोक हैं* जिनमेंसे एकको भी पूर्णतया धारण करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, फिर सम्पूर्ण गीताकी तो बात ही क्या है ।

अतः जिन पुरुषोंको धर्मके विस्तृत ग्रन्थोंको देखनेका पूरा समय नहीं मिलता है उनको चाहिये कि वे गीताका अर्थसहित अध्ययन अवश्य ही करें और उसके उपदेशोंको पालन करनेमें तत्पर

* जैसे गीता अ० २ । ७१, ३ । ३०, ४ । ३४, ५ । २९, ६ । ४७, ७ । १४, ८ । १४, ९ । ३२, १० । ९, १०, ११ । ५४, ५५, १२ । ८, १३ । १०, १४ । १९, २६, १५ । १९, १६ । १, १७ । १६, १८ । ६५, ६६ इत्यादि ।

हो जायँ । मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है और गीता मुक्ति-मार्ग बतलानेवाला एक प्रधान ग्रन्थ है, इसलिये परमेश्वरमें भक्ति और श्रद्धा रखनेवाले सभी आस्तिक मनुष्योंका इसमें अधिकार है। गीता-प्रचारके लिये भगवान्‌ने किसी देश, काल, जाति और व्यक्तिविशेषके लिये रुकावट नहीं की है, वरन् अपने भक्तोंमें गीताका प्रचार करनेवालेको सबसे बढ़कर अपना प्रेमी बतलाया है ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
(१८ । ६८)

'जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा, वह निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥
(१८ । ६९)

'और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथिवीमें दूसरा कोई होवेगा ।'

अतएव सभी देशोंकी सभी जातियोंमें गीताशास्त्रका प्रचार बड़े जोरके साथ करना चाहिये । केवल एक गीताके प्रचारसे ही पृथ्वीके मनुष्यमात्रका उद्धार हो सकता है । इसलिये इसी गीता-धर्मके प्रचारमें सबको यत्नवान् होना चाहिये । इससे सबको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है । यही एक सरल, सहज और मुख्य उपाय है ।

व्यापारसुधारकी आवश्यकता



रतवर्षके व्यापार और व्यापारियोंकी आज बहुत बुरी दशा है। व्यापारकी दुरवस्थामें विदेशी शासन भी एक बड़ा कारण है परन्तु प्रधान कारण व्यापारी-समुदायका नैतिक पतन है। व्यापारकी उन्नतिके असली रहस्यको भूलकर लोगोंने व्यापारमें झूठ, कपट, छलको स्थान देकर उसे बहुत ही घृणित बना डाला है। लोभकी अत्यन्त बढ़ी हुई प्रवृत्तिने किसी भी तरह धन कमानेकी चेष्टाको ही व्यापारके नामसे स्वीकार कर लिया है। बहुतसे भाई तो व्यापारमें झूठ, कपटका रहना आवश्यक और स्वाभाविक मानने लगे हैं और वे ऐसा भी कहते हैं कि व्यापारमें झूठ, कपट बिना काम नहीं चलता। परन्तु वास्तवमें यह बड़ा भारी भ्रम है। झूठ, कपटसे व्यापारमें आर्थिक लाभ होना तो बहुत दूरकी बात है परन्तु उलटी हानि होती है। धर्मकी हानि तो स्पष्ट ही है। आजकल व्यापारी-जगत्में अङ्गरेज-जातिका विश्वास औरोंकी अपेक्षा बहुत बढ़ा हुआ है। व्यापारी लोग अङ्गरेजोंके साथ व्यापार करनेमें उतना डर नहीं मानते जितना उन्हें अपने भाइयोंके साथ करनेमें लगता है। यह देखा गया है कि गल्ला, तिलहन वगैरह अङ्गरेजोंको दो आना नीचे भावमें भी लोग बेच देते हैं, आमदनी मालके लेन-देनका सौदा करनेमें भी पहले अङ्गरेजोंको देखते हैं इसका कारण यही है कि उनमें सच्चाई अधिक है। इसीसे उनपर लोगोंका विश्वास अधिक है। इस कथनका

यह अभिप्राय नहीं है कि अङ्गरेज सभी सच्चे और भारतवासीमात्र सच्चे नहीं हैं। यहाँ मतलब यह है कि व्यापारी कार्योंमें हमारी अपेक्षा उनमें सत्यका व्यवहार कहीं अधिक है। वह भी किसी धर्मके खयालसे नहीं, व्यापारमें उन्नति होने और झूठे झंझटोंसे बचनेके खयालसे है।

सच्चाईके व्यवहारके कारण जिन अङ्गरेज और भारतीय फर्मोंपर लोगोंका विश्वास है उनका माल कुछ ऊँचे दाम देकर भी लोग लेनेमें नहीं हिचकते। बराबरके भावमें तो खुशामद करके उनके साथ काम करना चाहते हैं।

व्यापारमें प्रधानतः क्रय-विक्रय होता है, क्रय-विक्रयके कई साधन हैं, कोई चीज तौलपर ली-दी जाती है, कोई नापपर, तो कोई गिनतीपर। नमूना देखना-दिखलाना भी एक साधन होता है। जो दूसरोंके लिये या दूसरोंका माल खरीदते-बेचते हैं वे आढ़तिया कहलाते हैं और जो दूसरोंसे दूसरोंको ठीक भावमें किसीका पक्ष न कर उचित दलालीपर माल दिला देते हैं वे दलाल कहलाते हैं। इन्हीं सब तरीकोंसे व्यापार होता है। वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना या अधिक लेना, चीज बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) चीज मिलाकर दे देना या धोखा देकर अच्छी ले लेना, नमूना दिखाकर उसको घटिया चीज देना और धोखेसे बढ़िया लेना, नफा, आढ़त, दलाली ठहराकर उससे अधिक लेना या धोखेसे कम देना, दलाली या आढ़तके लिये झूठी बातें समझा देना अथवा

झूठ, कपट, चोरी, जबरदस्ती या अन्य किसी प्रकारसे दूसरेका हक मार लेना, ये सब व्यापारके दोष हैं। आजकल व्यापारमें ये दोष बहुत ज्यादा आ गये हैं। किसी भी दोषका कोई भी खयाल न कर किसी तरह भी धन पैदा कर लेनेवाला ही आजकल समझदार और चतुर समझा जाता है। समाजमें उसीकी प्रतिष्ठा होती है। धनकी कमाईके सामने उसकी सारी चोरियाँ घरवाले और समाज सह लेता है। इसीसे चोरी और झूठ-कपटकी प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ रही है। व्यापारमें झूठ, कपट नहीं करना चाहिये या इसके बिना किये भी धन पैदा हो सकता है ऐसी धारणा ही प्रायः लोप हो चली है। इसीसे जिस तरफ देखा जाता है उसी तरफ पोल नजर आती है।

अधिकांश भारतीय मिलोंके साथ काम करनेमें व्यापारियोंको यह डर बना ही रहता है कि तेज बाजारमें हमें या तो नमूनेके अनुसार क्वालिटीका माल नहीं मिलेगा या ठीक समयपर नहीं मिलेगा। कपड़ेकी मिलोंमें जिस तरहकी कार्यवाहियाँ होती सुनी गयी हैं वे यदि वास्तवमें सत्य हैं तो हमारे व्यापारमें बड़ा धक्का पहुँचानेवाली हैं। रूई खरीदनेमें मैनेजिङ्ग एजेण्ट लोग बड़ी गड़बड़ किया करते हैं!

रूईके बाजारमें घटबढ़ बहुत रहती है। रूईका सौदा करनेपर भाव बढ़ जाता है तो एजेण्ट रूई अपने खाते रख लेते हैं और यदि भाव घट जाता है तो अपने लिये अलग खरीदी हुई रूई भी मौका लगनेपर मिल खाते नोंध देते हैं। वजन बढ़ानेके लिये

कपड़ोंमें माँडी लगानेमें तो अहमदाबाद मशहूर है । रूईका भाव बढ़ जानेपर सूतमें भी कमी कर दी जाती है । अनेक तरहके बहाने बताकर कंट्राक्टका माल भी समयपर नहीं दिया जाता । प्रायः लम्बाई-चौड़ाईमें भी गोलमाल कर दी जाती है । सूतमें वजन भी कम दे दिया जाता है, इन्हीं कारणोंसे बहुत-सी मिलोंकी साख नहीं जमती । पक्षान्तरमें विलायती वस्त्र-व्यवसाय भारतके लिये महान् घातक होनेपर भी कंट्राक्टोंकी शर्तोंके पालनमें अधिक उदारता और सच्चाई रहनेके कारण बहुत-से व्यापारी उस कामको छोड़ना नहीं चाहते । यहाँके मालके दाम ज्यादा रहनेका एक कारण अत्यधिक लोभकी मात्रा ही है ।

अनाज आदि खानेकी चीजोंमें दूसरे घटिया अनाज मिलाये जाते हैं—मिट्टी मिलायी जाती है । जीरा, धनिया आदि किरानेकी और सरसों, तिल आदि तिलहन चीजोंमें भी दूसरी चीज या मिट्टी मिलायी जाती है । किसान तो मामूली मिट्टी मिलाते हैं परन्तु व्यापारी लोग भी उसी रंगकी मिट्टी खरीदकर मिलाया करते हैं । वजन ज्यादा करनेके लिये बरसातमें माल गीली जगहमें रखते हैं जिससे कहीं-कहीं माल सड़ जाता है, खानेवाले चाहे बीमार हो जायँ, पर व्यापारियोंके घरोंमें पैसे अधिक आने चाहिये । गल्ला आदि जहाँ रखा जाता है वहाँ पहलेसे ही घटिया माल तो नीचे या कोनोंमें रखते हैं और बढ़िया माल सामने नमूना दिखानेकी जगह रक्खा जाता है, वजनमें भी बुरा हाल है । लेन-देनके बाट भी दो प्रकारके होते हैं !

पाटके व्यापारमें भी चोरियोंकी कमी नहीं है। वजन बढ़ानेके लिये पानी मिलाया जाता है। मिलोंमें माल पास करानेवाले बाबुओंको कुछ दे-दिलाकर बढ़ियाके कंट्राक्टमें घटिया माल दे दिया जाता है। वजनमें चोरी होती ही है। इसी तरह रूईमें पानी तथा धूल मिलायी जाती है। पाटकी तरह इनकी गाँठोंके अन्दर भी खराब माल छिपाकर दे दिया जाता है।

सभी चीजोंमें किसानोंसे माल खरीदते समय दामोंमें, वजनमें, घटियाके बदले बढ़िया लेनेमें धोखा देकर लूटनेकी चेष्टा रहती है और बेचते समय ठीक इससे उलटा व्यवहार करनेकी कोशिश होती है।

खाद्य पदार्थोंमें भी शुद्ध घी, तैल या आटातक मिलना कठिन हो गया है। ऐसा कोई काम नहीं जो आजकल व्यापारी लोभवश न करते हों। घीमें चरबी, तैल, विलायती घी और मिट्टीका तेल मिलाया जाता है। तैलमें भी बड़ी मिलावट होती है। सरसोंके साथ तीसी, रेड़ी तो मिलाते ही हैं परन्तु बड़ी-बड़ी मिलोंमें कुसुमके बीज भी मिलाये जाते हैं। जिसके तैलसे बदहजमी, हैजा, संग्रहणी आदि बीमारियाँ फैलती हैं। मनुष्य दुःख पाते हैं, मर जाते हैं। परन्तु लोभियोंको इस बातकी कोई परवाह नहीं! इसी तैलकी खल गायोंको खिलायी जाती है, जिससे उनके अनेक प्रकारकी बीमारियाँ हो जाती हैं। गौभक्त और गौसेवक कहानेवाले लोगोंकी यह गन्दी करतूत है! ऐसी मिलोंमें जब जाँचके लिये सरकारी अफसर आते हैं तो उन्हें धोखा देकर या उनकी कुछ भेंट-पूजा कर पिण्ड छुड़ा लिया जाता है। साइनबोर्डोंपर 'जलानेका तैल' लिखकर भी दण्डसे बचनेकी चेष्टा की जाती है।

नारियल, तिल, सरसों आदिके तैलोंमें कई तरहके विलायती किरासिन तैल मिलाये जाते हैं जो पेटमें जाकर भाँति-भाँतिकी बीमारियाँ पैदा करते हैं।

आजकल देशमें जो अधिक बीमारी फैल रही है, घर-घरमें रोगी दीख पड़ते हैं इसका एक प्रधान कारण व्यापारियोंका लोभवश खाद्य पदार्थोंमें अखाद्य चीजोंका मिला देना भी है।

कपड़ेके व्यापारमें भी बड़े-छोटे सभी स्थानोंमें प्रायः चोरी होती है। बम्बई, कलकत्ते आदि बड़े शहरोंके बड़े दूकानदारोंकी बड़ी चोरियाँ होती हैं। देहातके दूकानदार भी किसी तरह कमी नहीं करते। जहाँ अमुक नफे पर माल बेचनेका नियम है, वहाँ ग्राहकोंको ठगनेके लिये एक झूठा बीजक मँगा लेते हैं। हाथीके दाँत खानेके और दिखानेके और!

सूतके देहाती व्यापारी भी सूतके बण्डलोंमेंसे मुट्ठे निकालकर उसे ८ नम्बरसे १६ नम्बरतकका बना लेते हैं। इस बेईमानीके लिये कलकत्तेमें कई कारखाने बने हुए हैं जिनमें खरीदार जुलाहों-को धोखा देनेके लिये गोलमाल की जाती है, दूसरी बण्डल बना-कर बेचनेमें जुलाहे ठगे जाते हैं, खर्च बढ़ जाता है और सूत उलझ जाता है।

कई जगह चीनीके ऐसे कारखाने हैं जिनमें विदेशी चीनीमें गुड़ मिलाकर उसका रंग बदल दिया जाता है और फिर वह बनारसी या देशीके नामसे बेची जाती है।

आढ़त, दलाली, कमीशनमें भी तरह-तरहकी चोरियाँ की जाती हैं। वास्तवमें आढ़तियेको चाहिये कि महाजनके साथ जो आढ़त ठहरा ले उससे एक पैसा भी छिपाकर अधिक लेना हराम समझे। महाजनको विश्वास दिलाया जाता है कि आढ़त ।।।) या ।।) सैकड़ा ली जायगी परन्तु छल, कपटसे जितना अधिक चढ़ाया जाय उतना ही चढ़ाते हैं। २) ४) ५) सैकड़ेतक वसूल करके भी सन्तोष नहीं होता। बोरा, बारदाना, मजदूरी आदिके बहानेसे महाजनसे छिपाकर या मालपर अधिक दाम रखकर दलाली या बट्टा वगैरह उसे न देकर, अथवा गुप्तरूपसे अपना माल, बाजारसे खरीदा हुआ बताकर तरह-तरहसे महाजनको ठगना चाहते हैं।

कमीशनके काममें भी बड़ी चोरियाँ होती हैं। बाजार मन्दा हो गया तो तेज भावमें बिके हुए मालकी बिक्री मन्देकी दे देते हैं। तेज हो गया तो किसी दूसरेसे मिलकर विना बिके ही बहुत-सा माल खुद खरीदकर पहलेका बिका बताकर झूठी बिक्री भेज देते हैं। बँधे भावसे कम-ज्यादा भावमें भी माल बेचते हैं।

दलालीके काममें अपने थोड़ेसे लोभके लिये 'गाहकका गला कटा दिया जाता है।' दलालका कर्तव्य है कि वह जिससे जिसको माल दिलवावे उन दोनोंका समान हित सोचे। अपने लोभके लिये दोनोंको उलटी-सीधी पट्टी पढ़ाकर लेनेवालेको तेजी और बेचनेवालेको झूठ ही मन्दीकी रुख बताकर काम करवा देना बड़ा अन्याय है। अपनी जो सच्ची राय हो वही देनी चाहिये। दोनों पक्षोंको अपनी स्पष्ट धारणा और बाजारकी स्थिति सच्ची समझानी चाहिये।

कहाँतक गिनाया जाय ! व्यापारके नामपर चोरी, डकैती और ठगी सब कुछ होती है । न ईश्वरपर विश्वास है न प्रारब्धपर और न न्याय तथा सत्यपर ही । वास्तवमें व्यापारमें कुशलता भी नहीं है । कुशल व्यापारी सच्चा होता है, वह दूसरोंको धोखा देनेवाला नहीं होता । सच्चाईसे व्यापारकर वह सबका विश्वासपात्र बन जाता है, जितना विश्वास बढ़ता है उतना ही उसका झंझट कम होता है और व्यापारमें दिनोंदिन उन्नति होती है । मोल-मुलाई करनेवाले दूकानदारोंको ग्राहकोंसे बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती है । विश्वास जम जानेपर सच्चे एक दाम बतानेवाले दूकानदारको माल बेचनेमें कुछ भी कठिनाई नहीं होती, ग्राहक चाहकर बिना दाम पूछे उसका माल खरीदते हैं उन्हें वहाँ ठगे जानेका भय नहीं रहता । परन्तु आजकल तो दूकान खोलनेके समय प्रतिदिन लोग प्रायः भगवान्‌से प्रार्थना किया करते हैं । "शङ्कर ! भेज कोई हियेका अन्धा और गठरीका पूरा" याने भगवान् ऐसा ग्राहक भेजें जिसे हम ठग सकें, जो अपनी मूर्खतासे अपने गलेपर हमसे चुपचाप छुरी फिरवा ले । इससे यह सिद्ध होता है कि कोई ग्राहक अपनी बुद्धिमानी और सावधानीसे तो भले ही बच जाय, परन्तु दूकानदार तो उसपर हाथ साफ करनेको सब तरह सजा-सजाया तैयार है ।

थोड़ेसे जीवनके लिये ईश्वरपर अविश्वास करके पाप बटोरना बड़ी मूर्खता है । आमदनी तो उतनी ही होती है जितनी होनी होती है, पाप जरूर पल्ले बँध जाता है । पापका पैसा ठहरता नहीं, इधर आता है उधर चला जाता है, बट्टाखाता जितना रहना होता है उतना ही रहना है । लोग अपने मनमें ही धन आता हुआ देखकर

मोहित हो जाते हैं। पापसे धन पैदा होनेकी धारणा बड़ी ही भ्रम-मूलक है। इससे धन तो पैदा होता नहीं परन्तु आत्माका पतन अवश्य होता है। लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। जो अन्यायसे धन कमाकर उसमेंसे थोड़ा-सा दान देकर धर्मात्मा बनना और कहलाना चाहते हैं वे बड़े भ्रममें हैं। भगवान्के यहाँ इतना अन्धेर नहीं है, वहाँ सबकी सच्ची परख होती है।

अतएव परमात्मापर विश्वास करके व्यापारमें झूठ-कपटको सर्वथा त्याग देना चाहिये। किसी भी चीजमें दूसरी कोई चीज कभी मिलानी नहीं चाहिये। वजनमें ज्यादा करनेके लिये रूई, पाट, गल्ले आदिमें पानी मिलाना या गीली जगहमें रखना नहीं चाहिये। खाद्य पदार्थोंमें मिलावट करके लोगोंके स्वास्थ्य और धर्मको कभी नहीं बिगाड़ना चाहिये। वजन, नाप और गिनतीमें न तो कम देना चाहिये और न ज्यादा लेना चाहिये। नमूनेके अनुसार ही मालका लेन-देन करना अत्यन्त आवश्यक है।

आढ़त ठहराकर किसी भी तरहसे महाजनकी एक पाई ज्यादा लेना बड़ा पाप है। इससे खूब बचना चाहिये। इसी प्रकार कमीशनके काममें भी धोखा देकर काम नहीं करना चाहिये। दलालको भी चाहिये कि वह सच्ची रुख बताकर लेने-बेचनेवालेको भ्रमसे बचाकर अपने हक और मेहनतका ही पैसा ले।

हम जिसके साथ व्यवहार करें उसके साथ हमें वैसा ही बर्ताव करना चाहिये जैसा हम अपने साथ चाहते हैं। हम जैसा अपने हित और स्वार्थका खयाल रखते हैं उतना ही उसके हित और

स्वार्थका भी खयाल रखना चाहिये । सबसे उत्तम तो वह है कि जो अपना स्वार्थ छोड़कर पराया हित सोचता है—दूसरेके स्वार्थके लिये अपने स्वार्थको त्याग देता है । व्यापार करनेवाला होनेपर भी ऐसा पुरुष वास्तवमें साधु ही है ।

आजकल सट्टेकी प्रवृत्ति देशमें बहुत बढ़ गयी है । सट्टेसे धन, जीवन और धर्मको कितना धक्का पहुँच रहा है इस बातपर देशके मनस्वियोंको विचारकर शीघ्र ही इसे रोकनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये । पहले यह सट्टा अधिकतर बम्बईमें ही था और जगह कहीं-कहीं बरसातके समय बादलोंके सौदे हुआ करते थे, परन्तु अब तो इसका विस्तार चारों ओर प्रायः सभी व्यापार-क्षेत्रोंमें हो गया है । कुछ वर्षों पूर्व व्यापारी लोग सट्टे-फाटकेसे घृणा करने और सट्टेबाजोंके पास बैठने और उनसे बातें करनेमें हिचकते थे । पर अब ऐसे व्यापारी बहुत ही कम मिलते हैं जो सट्टा न करते हों । सट्टा उसे कहते हैं कि जिसमें प्रायः मालका लेन-देन न हो सिर्फ समयपर घाटा-नफा दिया लिया जाय । रूई, पाट, हेसियन, गल्ला, तिलहन, हुण्डी-शेयर और चाँदी आदि प्रायः सभी व्यापारी वस्तुओंका सट्टा होता है । सट्टेबाज न कमानेमें सुखी रहता है न खानेमें, उसका चित्त सदा ही अशान्त रहता है । सट्टेवालोंके खर्च अनापशनाप बढ़ जाते हैं । मेहनतकी कमाईसे चित्त उखड़ जाता है । ये लोग पल-पलमें लाखोंके सपने देखा करते हैं । झूठ-कपटको तो सट्टेका साथी ही समझना चाहिये । सट्टेवालोंकी सदियोंकी इज़्जत-आबरू घण्टोंमें बरबाद हो जाती है, सट्टेके कारण बड़े शहरोंमें प्रतिवर्ष एक-न-एक आत्महत्या या

आत्महत्याके प्रयत्न सुननेमें आते हैं। आत्महत्याके विचार तो शायद कई बार कितनोंके ही मनमें उठते होंगे। सट्टेवाजोंको आत्माका सुख मिलना तो बहुत दूरकी बात है, वे बेचारे गृहस्थके सुखसे भी वञ्चित रहते हैं। कई लोगोंका चित्त तो सट्टेमें इतना तल्लीन रहता है कि उन्हें भूख, प्यास और नींदतकका पता नहीं रहता। बीमार पड़ जाते हैं, बेचैनीसे कहीं लुढ़क पड़ते हैं और नींदमें उन्हें प्रायः सपने सट्टेके ही आते हैं। धर्म, देश, माता, पिता आदिकी सेवा तो हो ही कहाँसे, अपने स्त्री-बच्चोंकी भी पूरी सारसम्हाल नहीं होती; घरमें बच्चा बीमारीसे सिसक रहा है, सहधर्मिणी रोगसे व्याकुल है, सट्टेबाज विलायतके तारका पता लगानेवालोंमें भटक रहे हैं। एक सज्जनने यह आँखों देखी दशा वर्णन की थी! खेद है कि इस सट्टेको भी लोग व्यापारके नामसे पुकारते हैं जिसमें न घरका पता है, न संसारका और न शरीरका। मेरी समझसे यदि इतनी तल्लीनता थोड़े समयके लिये भी परमात्मामें हो जाय तो उससे परमार्थके मार्गमें अकथनीय उन्नति हो सकती है। इस सट्टेकी प्रवृत्तिसे मजूरीके काम नष्ट हो रहे हैं। कलानाश हो रही है। इस अवस्थामें यथासाध्य इसका प्रचार रोकना चाहिये।

इस सट्टेके सिवा एक जुआ घुड़दौड़का होता है, जिसमें बड़े-बड़े धनी-मानी लोग जा-जाकर बड़े चावसे दाव लगाया करते हैं। मनु महाराजने जीवोंके जुएको सबसे बड़ा पापकारी जुआ बतलाया है। अतएव सट्टा, जुआ सब तरहसे त्याग करनेयोग्य है। यदि कोई भाई लोभवश या दोष समझकर भी आत्माकी कमजोरीसे सर्वथा त्याग न कर सकें तो कम-से-कम घुड़दौड़में बाजी

लगाना तो बिल्कुल ही बन्द कर दें और सट्टेमें बिना हुई चीज माथे कर-कर बेचनेका काम कभी न करें। बिना हुए माथे कर-कर बेचनेवालेका माल वास्तवमें किसीको लेना नहीं चाहिये, इससे बड़ी भारी हानि होती है। जो सट्टेकी हानि समझकर भी उसका त्याग नहीं करता वह खुद अपनी हिंसाका साधन तो करता ही है पर दूसरोंको भी यथेष्ट नुकसान पहुँचता है। जो लोग 'खेला' (कार्नर) वगैरह करके मालके दाम बेहद चढ़ा देते हैं वे बड़ा पाप करते हैं, अतएव खेला करनेवालेमें कभी शामिल नहीं होना चाहिये, उसमें गरीबोंकी आह और उनका बड़ा शाप सहन करना पड़ता है।

कुछ ऐसे व्यापार होते हैं जिनमें बड़ी हिंसा होती है जैसे लाख, रेशम और चमड़ा आदि।

लाख कीड़ोंसे उत्पन्न होती है। वृक्षोंसे लाल गोंद-जैसे टुकड़े उतारे जाते हैं, उसमें दो प्रकारके जीव रहते हैं। एक तो बहुत बारीक रहते हैं जो बरसातमें गरमीसे जहाँ लाख पड़ी होती है वहाँ निकल-निकलकर दीवारोंपर चढ़ जाते हैं, दीवाल उन कीड़ोंसे लाल हो जाती है। दूसरे जीव लम्बे कीड़े-जैसे होते हैं, ये लाखके बीज समझे जाते हैं, इन असंख्य जीवोंकी बुरी तरह हिंसा होती है। प्रथम तो लाखके धोनेमें ही असंख्य प्राणी मर जाते हैं फिर थैलियोंमें भरकर जलती हुई भट्ठीमें उसे तपाया जाता है जिससे चपड़ा बनता है, जानवरोंके खूनका लखवटिया बनता है। जिस समय उसको तपाते हैं उस समय उसमें चटाचट शब्द होता है। चारों ओर दुर्गन्ध फैली रहती है। पानी खराब हो जाता है

जिससे बीमारियाँ फैलती हैं। इस व्यवहारको करनेवाले अधिकांश वैश्य भाई ही हैं।*

इसी प्रकार रेशमके बननेमें भी बड़ी हिंसा होती है। रेशम-सहित कीड़े उबलते जलमें डाल दिये जाते हैं, वे सब बेचारे उसमें झुलस जाते हैं, पीछे उनपर लिपटा हुआ रेशम निकाल लिया जाता है।

चमड़ेके लिये भारतवर्षमें कितनी गौ-हत्या होती है यह बतलाना नहीं होगा। अतएव लाख, रेशम और चमड़ेका व्यापार और व्यवहार प्रत्येक धर्मप्रेमी सज्जनको त्याग कर देना चाहिये।

कुछ लोग केवल व्याजका पेशा करते हैं। यद्यपि व्याजका पेशा निषिद्ध नहीं है परन्तु व्यापारके साथ ही रुपयेका व्याज उपजाना उत्तम है। व्याजके साथ व्यापार करनेवाला कभी अकर्मण्य नहीं होता, आलसी और नितान्त कृपण भी नहीं होता। उसमें व्यापारकुशलता आती है। लड़के-बच्चे काम सीखते हैं। कर्मण्यता बढ़ती है। अतएव केवल व्याजका ही पेशा नहीं करना चाहिये

---

*बड़े खेदकी बात है कि मारवाड़ी समाजमें इसी लाखकी चूड़ियाँ सोहागका चिह्न समझकर स्त्रियाँ पहनती हैं, ये चूड़ियाँ मुसलमान लखारे बनाते हैं। मुँहमाँगे दाम लेते हैं। जिस लाखमें इतनी हिंसा होती है, जो इतनी अपवित्र है उसकी चूड़ियोंका तुरन्त त्याग कर देना चाहिये। इसीलिये इसके बदलेमें काँचकी चूड़ियोंके प्रचारकी कोशिश हो रही है, फीरोजाबादमें श्रीहरदत्तराय मोहनलालको पत्र लिखनेसे काँचकी सुन्दर सस्ती मजबूत ठीक लाखकी-सी पात लगी हुई चूड़ियाँ मिल सकती हैं। प्रत्येक धर्मप्रेमीको उनके प्रचारमें सहायता करनी चाहिये।

—सम्पादक

परन्तु यदि कोई ऐसा न कर सके तो लोभवश गरीबोंको लूटना तो अवश्य छोड़ दे । ब्याजके पेशेवाले गरीबोंपर बड़ा अत्याचार किया करते हैं । कम रुपये देकर ज्यादाका दस्तावेज़ लिखवाते हैं । जरा-जरा-सी बातपर उनको तङ्ग करते हैं । ब्याजपर रुपया लेनेवाले लोगोंकी सारी कमाई ब्याज भरते-भरते पूरी हो जाती है । कमाई ही नहीं परन्तु स्त्रियोंका जेवर, पशु, धन, जमीन, घर-द्वार सब उस ब्याजमें चले जाते हैं । ब्याजके पेशेवाले निर्दयतासे उनके जमीन-मकानको नीलाम करवाकर गरीब स्त्री-बच्चोंको राहका कङ्गाल निराधार बना देते हैं । लोभसे ये सारे पाप होते हैं । इन पापोंकी अधिक वृद्धि प्रायः केवल ब्याजका पेशा करनेवालोंके अत्यधिक लोभसे होती है । अतएव ब्याज कमानेवालोंको कम-से-कम लोभसे अन्याय तो नहीं करना चाहिये ।

यथासाध्य विदेशी वस्त्र और अन्यान्य विदेशी वस्तुओंके व्यापारका त्याग करना चाहिये ।

सबसे पहली और अन्तिम बात यह है कि झूठ, कपट, छलका त्याग कर, दूसरेको किसी प्रकारका नुकसान न पहुँचा कर न्याय और सत्यताके साथ व्यापार करना चाहिये । यह तो व्यापार-शुद्धिकी बात संक्षेपसे कही गयी है । इतना तो अवश्य ही करना चाहिये । परन्तु यदि वर्णधर्म मानकर निष्कामभावसे व्यापारके द्वारा परमात्माकी पूजा की जाय तो इसीसे परमपदकी प्राप्ति भी हो सकती है ।

व्यापारसे मुक्ति



सत्य, कपट और लोभ आदि त्याग करके यदि भगवत्-प्रीत्यर्थ न्याययुक्त व्यापार किया जाय तो वही मुक्तिका मुख्य साधन बन सकता है। मुक्तिमें प्रधान हेतु भाव है, क्रिया नहीं है। शास्त्रविधिके अनुसार सकाम भावसे यज्ञ, दान, तप आदि उत्तम कर्म करनेवाला मुक्ति नहीं पाता, सकाम बुद्धिके कारण वह या तो उस सिद्धिको प्राप्त होता है जिसके लिये वह उक्त सत्कार्य करता है या निश्चित कालके लिये स्वर्गको प्राप्त करता है परन्तु निष्काम भावसे किया हुआ अल्प कर्म भी मुक्तिका हेतु बन सकता है। इसीलिये सकाम कर्मको तुच्छ और अल्प कहा है, कुछ भी न करनेवालेकी अपेक्षा सकाम यज्ञादि कर्म करनेवाले बहुत ही उत्तम हैं और इन लोगोंको प्रोत्साहन ही मिलना चाहिये परन्तु सकाम भाव रहनेतक वह कर्म स्त्री, धन, मान-बड़ाई या स्वर्गादिके अतिरिक्त परमपदकी प्राप्ति करानेमें समर्थ नहीं होता। इसीसे गीतामें भगवान्‌ने सकाम कर्मको निष्कामकी अपेक्षा नीचा बताया है (देखो गीता अ० २।४२, ४३, ४४। अ० ७।२०, २१, २२। अ० ९।२०, २१) पक्षान्तरमें निष्काम कर्मकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
(गीता २ । ४०)

'इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और विपरीत फलरूप दोष भी नहीं होता है इसलिये इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है ।' अतएव मुक्तिकामियोंको निष्काम कर्मका आचरण करना चाहिये । मुक्तिके लिये आवश्यकता ज्ञानकी है, किसी अन्य बाह्य उपकरणकी नहीं इसीसे मुक्तिका अधिकार साधन-सम्पन्न होनेपर सभीको है । व्यापारी भाइयोंको व्यापार छोड़नेकी आवश्यकता नहीं । वे यदि चाहें तो व्यापारको ही मुक्तिका साधन बना सकते हैं । भगवान्‌ने वर्ण-धर्मका वर्णन करते हुए कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

'जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सर्व जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है ।'

इस मन्त्रके अनुसार वैश्य अपने वर्णोचित कर्म व्यापारके द्वारा ही भगवान्‌को पूजकर परम सिद्धि पा सकते हैं । इस भावनासे व्यापार करनेवाले सरलता और समताके साथ संसारका सब

काम सुचारुरूपसे करते हुए भी मनुष्य-जीवनके अन्तिम ध्येयको प्राप्त कर सकते हैं। लोभ या धनकी इच्छासे न कर, कर्तव्यबुद्धिसे व्यापार करना चाहिये। कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए कर्ममें पाप नहीं रह सकते! पाप होनेका कारण लोभ और आसक्ति है। कर्तव्य-बुद्धिमें इनको स्थान नहीं है। कर्तव्यबुद्धिके व्यापारसे अन्तःकरण-की शुद्धि और ईश्वरकी प्रसन्नता होती है। शुद्ध अन्तःकरणमें तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा होती है और उससे भगवत्कृपा होनेपर परम-पदकी, सुलभतासे प्राप्ति होती है। परमपद प्राप्त करनेकी इच्छा न रखकर केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ व्यापार करनेवाला और भी उत्तम तथा प्रशंसनीय है।

गीताके उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार जब यह विवेक हो जाता है कि सारा संसार ईश्वरसे उत्पन्न है और वह ईश्वर ही समस्त संसारमें स्थित है, तब फिर उसका विस्मरण कभी नहीं हो सकता। परमात्माके इस चेतन और विज्ञानस्वरूपकी नित्य जागृति रहनेके कारण माया या अन्धकारके कार्यरूप काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रु कभी उसके समीप ही नहीं आ सकते। प्रकाशमें अन्धकारको स्थान कहाँ है? व्यापारमें असत्य, छल, कपटादि करनेकी प्रवृत्ति काम, लोभादि दोषोंके कारण ही होती है। जब काम-लोभादिका अभाव हो जाता है तब व्यापार स्वतः ही पवित्र बन जाता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि उस व्यापारसे ईश्वर-पूजा कैसे की जाय? पूजाके लिये शुद्ध वस्तु चाहिये। पापरहित व्यापार शुद्ध तो हो गया, पर पूजा कैसे हो? पूजा यही है कि लोभके स्थानमें ईश्वरप्रीतिकी भावना कर ली जाय। पतिव्रता रमणीकी

भाँति समस्त कार्य ईश्वर-प्रीत्यर्थ, ईश्वरकी आज्ञानुसार हो । ऐसे व्यापार-कार्यमें किसी दोषको स्थान नहीं रह जाता और यदि कहीं भ्रमसे अनजानमें कोई दोष हो भी जाता है तो वह दोष नहीं समझा जाता । कारण, उसमें सकाम भाव नहीं है । यदि कोई मनुष्य स्वार्थ, मान-बड़ाईका सर्वथा त्यागकर लोकसेवाके कार्यमें लग जाता है और कभी दैवयोगसे उससे कोई भूल बन जाती है, तब भी उसे कोई दोष नहीं देते और न उसे दोष लगता है । यह स्वार्थत्यागका—निष्काम भावका महत्त्व है । यदि कोई कहे कि स्वार्थ बिना व्यापारमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी, जब कोई स्वार्थ ही नहीं तब व्यापार कोई क्यों करेगा ? इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि स्वार्थ देखनेकी इच्छा हो तो इसमें बड़ा भारी स्वार्थ भी समाया हुआ है । अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होना और उससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाना क्या कम स्वार्थ है ? यही तो परम स्वार्थ है । पर इस स्वार्थकी बुद्धि भी जितने अंशमें अधिक त्याग की जाय, उतनी ही जल्दी सिद्धि होती है । स्वार्थ-बुद्धि हुए बिना लोग प्रवृत्त नहीं हो सकते इसीलिये यहाँपर यह स्वार्थ बतलाया गया है, नहीं तो स्वार्थके लिये किसी कर्ममें प्रवृत्त होना बहुत उत्तम बात नहीं है ।

यदि यह शंका हो कि लोभ-बुद्धि रक्खे बिना तो व्यापारमें नुकसान ही होगा, कभी लाभ होना सम्भव नहीं । यदि ऐसा है तो फिर यह काम केवल धनी लोग ही कर सकते हैं, सर्वसाधारणके लिये यह उपाय उपयुक्त नहीं है । पर ऐसी बात नहीं है । एक

ईमानदार सच्चा गुमाश्ता मालिककी आज्ञानुसार मालिकके लिये बड़ी कुशलतासे आलस्य और प्रमाद छोड़कर दूकानका काम करता है, मालिकसे अपनी उन्नति चाहनेके सिवा दूकानके किसी काममें उसका अन्य कोई स्वार्थ नहीं है। न उसे अन्य स्वार्थ-बुद्धि ही है। इस कार्यमें कहीं उन्नतिमें बाधा नहीं आती। इसी प्रकार भक्त अपने भगवान्की प्रीतिरूप स्वार्थका आश्रय लेकर सब कुछ भगवान्का समझकर उसकी आज्ञानुसार सारा कार्य करे तो उसकी उन्नतिमें कोई बाधा नहीं आ सकती। रही धनकी बात, सो धनवान् निःस्वार्थबुद्धिसे कार्य कर सकता है, गरीब नहीं कर सकता, यह मानना भ्रमसूलक है। दृष्टान्त तो प्रायः इसके विपरीत मिला करते हैं। धन तो निःस्वार्थ भावमें बाधक होता है। जो स्वार्थबुद्धिसे सर्वथा छूटा हुआ हो उसकी बात तो दूसरी है, नहीं तो धनसे अहङ्कार, ममता, लोभ और प्रमाद उत्पन्न हो ही जाते हैं। न्याययुक्त निःस्वार्थ व्यापारके लिये अधिक पूँजीकी भी आवश्यकता नहीं है। वास्तवमें इसमें थोड़ी या ज्यादा पूँजीका प्रश्न नहीं है, सारी बात निर्भर है कर्ताकी बुद्धिपर ! एक पूँजीपति निःस्वार्थ बुद्धि न होनेसे बड़ी पूँजीके व्यापारसे गरीबोंकी सेवा नहीं कर सकता, पर एक तैल, नमक, भूजा बेचनेवाला गरीब दूकानदार निःस्वार्थबुद्धि होनेके कारण संसारकी सेवा करनेमें समर्थ होता है। बड़ा व्यापारी पापबुद्धिसे नरकोंमें जा सकता है परन्तु पान-सुपारी बेचनेवाला निःस्वार्थी भक्त, गरीब जनतारूप परमात्माकी सेवा कर परमपदको प्राप्त कर सकता है।

दूकानदारको यह बुद्धि रखनी चाहिये कि उसकी दूकानपर जो ग्राहक आता है वह साक्षात् परमात्माका ही स्वरूप है। जैसे लोभी दूकानदार झूठ, कपट करके दिखौवा आदर-सत्कार या प्रेम करके हर तरहसे ग्राहकको ठगना चाहता है वैसे ही इस दूकानदार-को चाहिये कि वह सच्ची सरल बातोंसे सच्चे प्रेमके साथ ग्राहकको सब बातें यथार्थ समझाकर उसका जिस बातमें हित होता हो वही करे, लोभीकी दूकानपर जैसे ग्राहक बार-बार नहीं आया करते क्योंकि आये ग्राहकको ठग लेनेमें ही वह अपना कर्तव्य समझता है और ऐसा ही दूकानदार आजकल चतुर और कमाऊ समझा जाता है, इसी प्रकार यह समझकर कि ग्राहकरूपी परमात्मा बार-बार नहीं आते, इनकी जो कुछ भी सेवा मुझसे हो जाय सो थोड़ी है, उसके साथ पूरी तरहसे उसके हितको देखते हुए पूर्ण सत्यताका व्यवहार करना चाहिये।

संसारका सब धन परमात्माका है, हम सब उसकी प्रजा हैं, परमात्माने योग्यतानुसार सबको खजाना सँभलाकर हमें उसकी रक्षा और यथायोग्य व्यवहारकी आज्ञा दी है।

अतएव कोई भी काम छोटा-बड़ा नहीं है। जिसके पास अधिक रुपये हैं और ज्यादा काम जिम्मे है वह बड़ा है और कम-वाला छोटा है सो बात नहीं है। छोटे-बड़े सबको एक दिन सब कुछ दूसरेको सौंपकर मालिकके घर जाना पड़ता है। जो मालिक-का काम ईमानदारीसे चलाकर जाता है वह सुखसे जाता है और तरक्की पाता है, मालिकके मन चढ़ जानेपर मालिकके बराबरका

हिस्सेदार भी बन सकता है और जो बेईमानीसे मालिककी चीज-को अपनी समझकर कर्तव्य भूलकर छल-कपट करके जाता है वह दण्डका और अवनतिका पात्र होता है।

एक पिताके कई पुत्र हैं, सबका दूकानमें समान हिस्सा है, पर सब अलग-अलग काम देखते हैं। एक सेठाई करता है, एक दूकानदारी करता है, एक रोकड़का काम देखता है, एक घरका काम देखता है, एक रुपये उगाहनेका काम करता है, सभी उस एक ही फर्मकी उन्नतिमें लगे हैं। पिताने काम बाँट दिये हैं उसी तरह काम कर रहे हैं इनमें हिस्सेके हिसाबमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, परन्तु अलग-अलग अपना काम न कर यदि सभी सेठाई, या सभी दूकानदारी करना चाहें तो सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसी प्रकार परम पिता परमात्माके सब सन्तान भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, जो उसका सेवक बनकर निःस्वार्थभावसे उसकी आज्ञानुसार कार्य करता है वही उसको अधिक प्यारा है।

नाटकमें नाटकका स्वामी यदि स्वयं एक मामूली चपरासीका पार्ट करता है तो वह छोटा थोड़े ही बन जाता है। जिसके जिम्मे जो काम हो उसे वही करना चाहिये। जिसका कार्य सुन्दर और स्वार्थरहित होगा उसीपर प्रभु प्रसन्न होंगे।

अतएव प्राणीमात्रको परमात्माका स्वरूप और पूजनीय समझ-कर झूट, कपट, छलको त्यागकर स्वार्थबुद्धिसे रहित हो अपने-अपने कार्यद्वारा सर्वव्यापी परमात्माकी पूजा करनी चाहिये। मनमें सदा यह भावना रखनी चाहिये कि किस तरह मैं इस रूपमें मेरे सामने

प्रत्यक्ष रहनेवाले परमात्माकी सेवा अधिक कर सकूँ। इस भावनासे व्यापार आप ही सुधर सकता है और इससे एक व्यापारी दूकान-पर बैठा हुआ कुछ भी व्यापार करता हुआ सरलताके साथ परमात्मा-की सेवाकर उन्हें प्रसन्न कर सकता है। व्यापारी, दलाल, वकील, डाक्टर, जमींदार, किसान सभी कोई अपनी-अपनी आजीविकाके पेशेद्वारा इस बुद्धिसे परमात्माकी सेवा कर सकते हैं।

सारी बात नीयतपर निर्भर है। मालिककी पूँजी बनी रहे और आनेवाले महाजनोंकी हर तरहसे सेवा होती रहे, इसी भावसे सबको सबके साथ बर्ताव करना चाहिये। अपने-अपने कर्मोंद्वारा ग्राहकोंको सरलताके साथ निःस्वार्थबुद्धिसे सुख पहुँचाना ही स्वकर्मके द्वारा परमात्माकी पूजा करना है और इस पूजारूप भक्ति-से परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है इसमें कोई सन्देह नहीं। इस भावको जाग्रत् रखनेके लिये भगवान्के नाम-जपकी आवश्यकता है। जैसे बिगुलकी आवाजसे सिपाही सावधान रहते हैं ऐसे ही नाम-जपकी बिगुल बजाते रहकर मन-इन्द्रियोंको सदा सावधान रखना चाहिये और बुद्धिके द्वारा श्रीमद्भगवद्गीताके उपर्युक्त १८। ४६ के मन्त्रका बारम्बार मनन और विचारकर तदनुसार अपनेको बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा हो जानेपर अनायास ही 'व्यापारके द्वारा मुक्ति' हो सकती है।



मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?



ई कहते हैं कि 'संसारमें कर्म ही प्रधान है, जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है', दूसरे कहते हैं कि 'ईश्वर ही सबको बन्दरकी तरह नचाते हैं।' इन दोनों मतोंमें परस्पर विरोध माल्म होता है। यदि कर्म ही प्रधान है और मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है तो ईश्वरका बाजीगरकी भाँति जीवको नचाना सिद्ध नहीं होता और न ईश्वरकी कोई महत्ता ही रह जाती है। पक्षान्तरमें यदि ईश्वर ही सब कुछ करवाता है, मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा परतन्त्र है तो किसीके द्वारा किये हुए बुरे कर्मका फल उसे क्यों मिलना चाहिये ? जिस ईश्वरने कर्म करवाया, फलभोगका भागी भी उसे ही होना चाहिये, पर ऐसा देखा नहीं जाता। इस तरहके प्रश्न प्रायः उठा करते हैं, अतएव इस विषयपर कुछ विवेचन किया जाता है !

मेरी समझसे जीव वास्तवमें परमेश्वर और प्रकृतिके अधीन है। कम-से-कम फल-भोगनेमें तो वह सर्वथा परतन्त्र है। धन, स्त्री, पुत्र, कीर्ति आदिका संयोग-वियोग कर्मफलवश परवशतासे ही होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। नवीन कर्मोंके करनेमें भी वह है तो परतन्त्र ही, परन्तु कुछ अंशमें स्वतन्त्र भी है, या यों कहिये कि स्वेच्छासे मौका पाकर वह अनधिकार स्वतन्त्र आचरण करने लगता है, इसीसे उसे दण्डका भोग भी करना पड़ता है।

बन्दर बाजीगरके अधीन है, उसके गलेमें रस्सी बँधी है, मालिककी इच्छाके अनुकूल नाचना ही उसका कर्तव्य है, यदि वह मालिककी इच्छाके विपरीत किञ्चित् भी आचरण नहीं करता तो मालिक प्रसन्न होकर उसे अच्छा खाना देता है, अधिक प्यार करता है। कदाचित् वह मालिककी इच्छानुसार नहीं चलता—प्रतिकूल आचरण करता है तो मालिक उसे मारता है—दण्ड देता है। इस दण्ड देनेमें भी उसका हेतु केवल यही है कि वह उसके अनुकूल बन जाय ! बाजीगर बन्दरको मारता हुआ भी यह नहीं चाहता कि बन्दरका बुरा हो, क्योंकि इस अवस्थामें भी वह उसे खानेको देता है, उसका पालन-पोषण करता है।

इसी प्रकारका बर्ताव सन्तानके प्रति माता-पिताका हुआ करता है, अवश्य ही बाजीगरकी अपेक्षा माता-पिताके बर्तावका दर्जा ऊँचा है। बाजीगरका वह बर्ताव—भूलपर दण्ड देते हुए भी पोषण करना—केवल स्वार्थवश होता है। माता-पिता अपने स्वार्थके अतिरिक्त सन्तानका निजका हित भी सोचते हैं, क्योंकि वह उनका आत्मा है। परन्तु परमात्माका दर्जा तो इन दोनोंसे भी ऊँचा है, क्योंकि वह अहैतुक प्रेमी तथा सर्वथा स्वार्थशून्य है। वह जो कुछ करता है, सब हमारे हितके लिये ही करता है। वास्तवमें हम सर्वथा उसके अधीन हैं, तथापि उसने हमें दयापूर्वक इच्छानुसार सत्कर्म करनेका अधिकार दे रक्खा है। उसकी आज्ञानुसार कर्म करना ही हमारा वह अधिकार है। यदि हम उस अधिकारका व्यतिक्रम करते हैं तो वह परम पिता हमें बड़े प्यार-

से हमारा दोष दूर करनेके लिये—हमें कुपथसे हटाकर सुपथपर लानेके लिये दण्ड देता है। उसका दण्डविधान कहीं-कहीं भीषण प्रतीत होनेपर भी दया और प्रेमसे लबालब भरा रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर मनुष्य-को अपने अधिकारका अतिक्रम करने ही क्यों देता है ? वह तो सर्वसमर्थ है, क्षणभरमें अघटन घटना घटा सकता है, फिर वह मनुष्यको उसके अधिकारोंके बाहर दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त ही क्यों होने देता है ? इसका उत्तर इस दृष्टान्तसे समझनेकी चेष्टा कीजिये।

सरकारने किसी व्यक्तिको आत्मरक्षार्थ बन्दूक रखनेकी सनद दी है, बन्दूक उसके अधिकारमें है, वह जब चाहे तभी उसका यथेच्छ उपयोग कर सकता है। परन्तु कानूनसे उसे मर्यादाके अन्दर ही उपयोग करनेका अधिकार है। चोरी करने, डाका डालने, किसीका खून करने या ऐसे ही किसी बेकानूनी अन्याय-कार्यमें वह उस बन्दूकका उपयोग नहीं कर सकता। करता है तो उसका वह कार्य अन्याय और नियमविरुद्ध समझा जाता है, परिणाममें उसकी सनद छीन ली जाती है और वह उपयुक्त दण्डका पात्र होता है। अथवा यों समझिये कि किसी राज्यमें किसी व्यक्तिको कोई अधिकार राजाकी ओरसे इसलिये दिया गया है कि अपने अधिकारके अनुसार प्रजाकी सेवा करता हुआ राज्यका वह काम, जो उसके जिम्मे है नियमानुसार सुचारुरूपसे करे। वह यदि सुचारुरूपसे नियमानुसार काम करता है तो राजा प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार दे सकता है, उसकी पदोन्नति हो सकती

है और वह बढ़ते-बढ़ते अन्ततक राज्यका पूरा अधिकारी भी हो सकता है। परन्तु यदि वह अपने अधिकारका दुरुपयोग करे, कानूनके विरुद्ध कार्यवाही करने लगे तो उसका अधिकार छिन जाता है और उसे दण्ड मिलता है। यह सब होते हुए भी बन्दूकका या अपने अधिकारका दुरुपयोग करते समय सरकार या राजा उसका हाथ पकड़ने नहीं आते। कार्य कर चुकनेपर ही उपयुक्त दण्ड मिलता है। इसी प्रकार परमात्माने भी हमें सत्कर्म करनेका अधिकार दे रक्खा है, परन्तु हम दुष्कर्म करते हैं तो वह हमें रोकता नहीं, कर्म करनेपर उसका यथोचित दण्ड देता है।

यहाँपर फिर यह प्रश्न होता है कि इस जगत्की सरकार या यहाँके राजा तो सर्वज्ञ या सर्वव्यापी न होनेसे कानून तोड़कर अधिकारका दुरुपयोग करनेवालोंके हाथ नहीं पकड़ सकते परन्तु परमात्मा जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् है, उससे तो मन, वाणी, शरीरकी कोई क्रिया छिपी नहीं है। वह दुष्कर्म करनेवाले मनुष्यका हाथ पकड़कर उसे बलात्कारसे क्यों नहीं रोक देता ? इसका उत्तर यही है कि परमात्माकी विधि इस तरह रोकनेकी नहीं है, उसने मनुष्यको अपने जीवनमें कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दे रक्खी है। पर साथ ही दया करके उसे शुभाशुभ परखनेवाली बुद्धि या विवेक भी दे दिया है, जिससे वह भले-बुरेका विचारकर अपना कर्तव्य निश्चय कर सके और यह भी घोषणा कर दी है कि यदि कोई मनुष्य अनधिकार—शास्त्रविपरीत चेष्टा करेगा तो उसे अवश्य दण्ड भोगना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाजीगरके बन्दरकी भाँति ईश्वर ही सबको नचाता है, सभी

उसके अधीन हैं परन्तु जैसे भूल करनेवाले बन्दरको दण्ड मिलता है, इसी प्रकार ईश्वरकी आज्ञा न माननेवालेको भी दण्डका भागी होना पड़ता है। अवश्य ही नाच भगवान् नचाते हैं परन्तु नाचनेमें मालिककी इच्छानुसार या उसके प्रतिकूल नाचना बन्दरके अधिकारमें है। सरकार या राजाने अधिकार दिया है परन्तु उन्होंने उसका दुरुपयोग करनेकी आज्ञा नहीं दी है। भगवान्‌ने भी मनुष्य-जीवन प्रदानकर सत्कर्मोंके द्वारा क्रमशः उन्नत होकर परमपद प्राप्त करनेका अधिकार हमें प्रदान किया है परन्तु पाप करनेकी आज्ञा उन्होंने नहीं दी है। जब एक न्यायपरायण मामूली राजा भी अपने किसी अफसरको अधिकारका दुरुपयोग कर पाप करनेकी आज्ञा नहीं देता, तब भगवान् तो ऐसी आज्ञा दे ही कैसे सकते हैं ? अतएव यह बात भी ठीक है कि मनुष्य सर्वथा ईश्वरके अधीन है। साथ ही यह भी सत्य है कि वह ईश्वर-प्रदत्त अधिकारका सदुपयोग कर परम उन्नति और उसका दुरुपयोग कर अत्यन्त अधोगतिको भी प्राप्त हो सकता है।

अब यह प्रश्न होता है कि 'भगवान्‌की आज्ञा न होने और परिणाममें दुःखकी सम्भावना होनेपर भी मनुष्य भगवदिच्छाके विरुद्ध पापाचरण क्यों करता है ? किस कारणसे वह जान-बूझकर पापोंमें प्रवृत्त होता है ? इस प्रश्नपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि इस पापकी प्रवृत्तिका कारण अज्ञान है। अज्ञानसे आवृत होकर ही सब जीव मोहित हो रहे हैं, *अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः*'। (गीता ५।१५)

प्रकृतिके दो स्वरूप हैं, विद्यात्मक और अविद्यात्मक। इन दोनोंमें अविद्यात्मक प्रकृतिका स्वरूप अज्ञान है। इसी अज्ञानसे उत्पन्न अहंकार,आसक्ति आदि दोषोंके वश होकर मनुष्य पापमें प्रवृत्त होता है। संसारमें अविद्या आदि पाँच क्लेश महर्षि पतञ्जलिने भी माने हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः

(यो० सा० ३)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पाँच क्लेश कहलाते हैं। इनमें पिछले चारों क्लेशोंकी उत्पत्ति अविद्यासे ही होती है। संसारके सब प्रकारके क्लेशोंमें ये पाँच ही हेतु हैं। इन्हीं अज्ञानज पञ्चक्लेशोंसे मनुष्य परिणाम भूलकर पाप करता है।

इन पाँचोंकी संक्षिप्त व्याख्या यह है—'अविद्या' जिससे अनित्यमें नित्य-बुद्धि, अशुचिमें शुचि-बुद्धि, दुःखमें सुख-बुद्धि और अनात्ममें आत्म-बुद्धिरूप विपरीतज्ञान हो रहा है। 'अस्मिता' अहंकार या 'मैं' भावको कहते हैं, जो समस्त बन्धनोंका हेतु है। 'राग' आसक्तिका नाम है, इसीसे मनुष्य पापमें लगता है। 'द्वेष' मनके विरुद्ध कार्योंमें होनेवाले भावका नाम है। रागद्वेषरूप बीजसे ही काम-क्रोधरूप महान् अनर्थकारी वृक्ष उत्पन्न होते हैं। मरणभयको 'अभिनिवेश' कहते हैं। अस्तु—

अर्जुनने भी भगवान्से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे श्रीकृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पापका आचरण करता है।' इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि हे अर्जुन !—

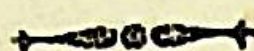
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा अशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान ।' इस कामरूप वैरीका निवास इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें है। इन मन, बुद्धि, इन्द्रियोंद्वारा ही इसने ज्ञानको आच्छादित कर जीवात्माको मोहित कर रक्खा है। अतएव इनको वशमें करके इस ज्ञानविज्ञानके नाश करनेवाले पापी कामको मारना चाहिये। क्योंकि बुरे कर्म अज्ञान—अविद्याजनित आसक्तिसे या कामनासे होते हैं। जो इनके वशमें न होकर भगवान्‌के दिये हुए अधिकारके अनुसार बर्तता है, वह यहाँ सर्वतोभावसे सुखी रहकर, अन्तमें परम सुखरूप परमात्माको प्राप्त करता है !

इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य कर्म करनेमें परतन्त्र है, परन्तु ईश्वरकी दी हुई स्वतन्त्रतासे कुछ अंशमें स्वतन्त्र भी है।



कर्मका रहस्य





क सज्जनका प्रश्न है "जब यह बात निश्चित है कि हम अपने ही कर्मोंका फल भोगते हैं, हमारे कर्मोंके अनुसार ही हमारी अच्छी या खराब बुद्धि होती है, तब हम यह किसलिये कहते हैं कि मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ करता है वह ईश्वर ही करता है। ईश्वर तो हमारे कर्मोंके फलको न कम कर सकता है न ज्यादा, तब फिर हम ईश्वरका भजन ही क्यों करें ?"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य अपने कर्मोंका ही फल भोगता है और उसकी बुद्धि भी प्रायः कर्मानुसार होती है। यह भी ठीक है कि कर्मोंके अनुसार बने हुए स्वभावके अनुकूल ईश्वरीय प्रेरणासे ही मनुष्य किसी भी क्रियाके करनेमें समर्थ होता है। ईश्वरीय सत्ता, शक्ति, चेतना, स्फूर्ति और प्रेरणाके अभावमें क्रिया असम्भव है। इस न्यायसे सब कुछ ईश्वर ही कराता है। यह भी युक्तियुक्त सिद्धान्त है कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' समर्थ होनेपर भी कर्मोंके फलको न्यूनाधिक नहीं करता। इतना सब होते हुए भी ईश्वरके भजनकी बड़ी आवश्यकता है। इस विषयका विवेचन करनेसे पहले कर्म क्या है उसका भोग किस तरह

होता है' 'कर्मफलभोगमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र' आदि विषयोंपर कुछ विचार करना आवश्यक है।

शास्त्रकारोंने कर्म तीन प्रकारके बतलाये हैं– (१) सञ्चित, (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। अब इनपर अलग-अलग विचार कीजिये–

सञ्चित

सञ्चित कहते हैं अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके संग्रहीत कर्मोंको। मन, वाणी, शरीरसे मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह जबतक क्रियारूपमें रहता है, तबतक वह क्रियमाण है और पूरा होते ही तत्काल सञ्चित बन जाता है। जैसे एक किसान चिरकालसे खेती करता है, खेतीमें जो अनाज उत्पन्न होता है उसे वह एक कोठेमें जमा करता रहता है। इस प्रकार बहुत-से वर्षोंका विविध प्रकारका अनाज उसके कोठेमें भरा है, खेती पकते ही नया अनाज उस कोठेमें फिर आ जाता है। इसमें खेती करना कर्म है और अनाजसे भरा हुआ कोठा उसका सञ्चित है। ऐसे ही कर्म करना क्रियमाण और उसके पूरा होते ही हृदयरूप बृहत् भण्डारमें जमा हो जाना सञ्चित है। मनुष्यकी इस अपार सञ्चित कर्मराशिमेंसे, पुण्य-पापके बड़े ढेरमें-से कुछ-कुछ अंश लेकर जो शरीर बनता है, उसमें उन भोगसे ही नाश होनेवाले कर्मोंके अंशका नाम प्रारब्ध होता है। इसी प्रकार जबतक सञ्चित अवशेष रहता है, तबतक प्रारब्ध बनता रहता है। जबतक इस अनेक जन्मार्जित कर्मसञ्चितका सर्वथा

नाश नहीं होता, तबतक जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती। सञ्चितसे स्फुरणा, स्फुरणासे क्रियमाण, क्रियमाणसे पुनः सञ्चित और सञ्चितके अंशसे प्रारब्ध। इस प्रकार कर्मप्रवाहमें जीव निरन्तर बहता ही रहता है। सञ्चितके अनुसार ही बुद्धिकी वृत्तियाँ होती हैं यानी सञ्चितहीके कारण उसीके अनुकूल हृदयमें कर्मोंके लिये प्रेरणा होती है। सात्त्विक, राजस या तामस समस्त स्फुरणाओं या कर्मप्रेरणाओंका प्रधान कारण 'सञ्चित' ही है। यह अवश्य जान रखनेकी बात है कि सञ्चित केवल प्रेरणा करता है, तदनुसार कर्म करनेके लिये मनुष्यको बाध्य नहीं कर सकता। कर्म करनेमें वर्तमान समयके कर्म ही, जिन्हें पुरुषार्थ कहते हैं, प्रधान कारण हैं। यदि पुरुषार्थ, सञ्चितके अनुकूल होता है तो वह सञ्चितद्वारा उत्पन्न हुई कर्मप्रेरणामें सहायक होकर वैसा ही कर्म करा देता है, प्रतिकूल होता है तो उस प्रेरणाको रोक देता है। जैसे किसीके मनमें बुरे सञ्चितसे चोरी करनेकी स्फुरणा हुई, दूसरेके धनपर मन चला परन्तु अच्छे सत्सङ्ग, विचार और शुभ वातावरणके प्रभावसे वह स्फुरणा वहीं दबकर नष्ट हो गयी। इसी प्रकार शुभ सञ्चितसे दानकी इच्छा हुई, परन्तु वह भी वर्तमानके कुसङ्गियोंकी बुरी सलाहसे दबकर नष्ट हो गयी। मतलब यह कि कर्म होनेमें वर्तमान पुरुषार्थ ही प्रधान कारण है। इस समयके शुभ सङ्ग और शुभ विचार-जनित कर्मोंके नवीन शुभ सञ्चित बनकर, पुराने सञ्चितको दबा देते हैं जिससे पुराने सञ्चितके अनुसार स्फुरणा बहुत कम होने लगती है।

किसानके कोठेमें वर्षोंका अनाज भरा है, अबकी बार किसानने नयी खेतीका अनाज उसमें और भर दिया, अब यदि उसे अनाज निकालना होगा तो सबसे पहले वही निकलेगा जो नया होगा, क्योंकि वही सबसे आगे है। इसी प्रकार सञ्चितके विशाल ढेरमेंसे सबसे पहले उसीके अनुसार मनमें स्फुरणा होगी, जो सञ्चित नये-से-नये कर्मका होगा। मनमें मनुष्यके बहुत विचार भरे हैं परन्तु उसे अधिक स्मृति उन्हीं विचारोंकी होती है, जिनमें वह अपना समय वर्तमानमें विशेष लगा रहा है। एक आदमी साधुसेवी है, परन्तु कुसङ्गवश वह नाटक देखने लगा, इससे उसे नाटकोंके दृश्य ही याद आने लगे। जिस तरहकी स्फुरणा मनुष्यके मनमें होती है, यदि पुरुषार्थ उसके प्रतिकूल नहीं होता, तो प्रायः उसीके अनुसार वह कर्म करता है, कर्मका वैसा ही नया सञ्चित होता है, उससे फिर वैसी ही स्फुरणा होती है, पुनः वैसे ही कर्म बनते हैं। नाटक देखनेसे उसीकी स्मृति हुई, फिर देखनेकी स्फुरणा हुई, सङ्ग अनुकूल था, अतः पुनः देखने गया, पुनः उसीकी स्मृति और स्फुरणा हुई, पुनः नाटक देखने गया। यों होते-होते तो वह मनुष्य साधुसेवारूपी सत्कर्मको छोड़ बैठा और धीरे-धीरे उसकी बात भी वह प्रायः भूल गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्सङ्ग, सदुपदेश, सद्विचार आदिसे उत्पन्न वर्तमान कर्मोंसे पूर्वसञ्चितकी स्फुरणाएँ दब जाती हैं, इसीसे यह कहा जाता है कि मनुष्य सञ्चितके संग्रह, परिवर्तन और उसकी क्षय-वृद्धिमें प्रायः स्वतन्त्र है।

अन्तःकरणमें कुछ स्फुरणाएँ प्रारब्धसे भी होती हैं। यद्यपि यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि कौन-सी स्फुरणा सञ्चितकी है और कौन-सी प्रारब्धकी है; परन्तु साधारणतः यों समझना चाहिये कि जो स्फुरणा या वासना नवीन पाप-पुण्यके करनेमें हेतुरूप होती हैं, उनका कारण सञ्चित है और जो केवल सुख-दुःख भुगतानेवाली होती हैं, वे प्रारब्धसे होती हैं। प्रारब्धसे होनेवाली वासनासे सुख-दुःखोंका भोग मानसिकरूपसे सूक्ष्म शरीरको भी हो सकता है और स्थूल शरीरके द्वारा क्रिया होकर भी हो सकता है परन्तु इस प्रारब्धसे उत्पन्न वासनाके परिवर्तनकी स्वतन्त्रता मनुष्यको नहीं है।

प्रारब्ध

यह ऊपर कहा जा चुका है कि पाप-पुण्यरूप सञ्चितके कुछ अंशसे एक जन्मके लिये भोग भुगतानेके उद्देश्यसे प्रारब्ध बनता है। यह भोग दो प्रकारसे भोगा जाता है; मानसिक वासनासे और स्थूल शरीरकी क्रियाओंसे। स्वप्नादिमें या अन्य समय जो तरह-तरहकी वृत्ति-तरंगें चित्तमें उठती हैं, उनसे जो सुख-दुःखका भोग होता है, वह मानसिक है। एक व्यापारीने अनाज खरीदा, मनमें आया कि अबकी बार इस अनाजमें इतना नफा हो गया तो जमीन खरीदकर मकान बनवाऊँगा, नफेके कई कारणोंकी कल्पना भी हो गयी, मन आनन्दसे भर गया, दूसरे ही क्षण मनमें आया कि यदि कहीं भाव मन्दा हो गया, घाटा लगा तो महाजनकी रकम भरनेके लिये घर-द्वार बेचनेकी नौबत आ जायगी, मनमें चिन्ता

हुई, चेहरा उतर गया। चित्तमें इस तरहकी सुख-दुःख उत्पन्न करनेवाली विविध तरङ्गें क्षण-क्षणमें उठा करती हैं। ऊपरका सारा साज-सामान ठीक है, दुःखका कोई कारण नजर नहीं आता, परन्तु मानसिक चिन्तासे मनुष्य बहुधा दुखी देखे जाते हैं, लोगोंको उनके चेहरे उतरे हुए देखकर आश्चर्य होता है। इसी प्रकार सब प्रकारके बाह्य अभावोंमें दुःखके अनेक कारण उपस्थित होनेपर भी मानसिक प्रसन्नतासे समय-समयपर मनुष्य सुखी होते हैं। पुत्रकी मृत्युपर रोते हुए मनुष्यके मुखपर भी चित्त-वृत्तिके बदल जानेसे क्षणभरके लिये हँसीकी रेखा देखी जाती है। यह भी प्रारब्धका मानसिक भोग है।

प्रारब्ध-भोगका दूसरा प्रकार सुख-दुःखरूप इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंका प्राप्त होना है। सुख-दुःखरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है। जिनको अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छा-प्रारब्ध कहते हैं।

अनिच्छा—राह चलते हुए मनुष्यपर किसी मकानकी दीवाल-का टूटकर गिर पड़ना, बिजली पड़ जाना, वृक्ष टूट पड़ना, घरमें बैठे हुए पर छत टूट पड़ना, हाथसे अकस्मात् बन्दूक छूटकर गोली लग जाना आदि दुःखरूप और राह चलते हुएको रत्न मिल जाना, खेत जोततेको जमीनसे धन मिलना आदि सुखरूप भोग जिनके प्राप्त करनेकी न मनमें इच्छा की थी और न किसी दूसरेकी ही ऐसी इच्छा थी। इस प्रकारसे अनायास दैवयोगसे आप-से-आप सुख-दुःखादिरूप भोगोंका प्राप्त होना, अनिच्छा-प्रारब्ध है।

परेच्छा—सोये हुए मनुष्यपर चोर-डाकुओंका आक्रमण होना, जान-बूझकर किसीके द्वारा दुःख दिया जाना आदि दुःखरूप और

कुमार्गमें जाते हुएको सत्पुरुषका रोककर बचा देना, कुपथ्य करते हुए रोगीको हाथ पकड़कर वैद्य या मित्रद्वारा रोका जाना, बिना ही इच्छाके दूसरेके द्वारा धन मिल जाना आदि सुखरूप भोग जो दूसरोंकी इच्छासे प्राप्त होते हैं, उसका नाम परेच्छा-प्रारब्ध है। इसमें एक बात बहुत समझनेकी है। एक मनुष्यको किसीने चोट पहुँचायी या किसी मनुष्यने किसीके घरमें चोरी की इसमें उस मनुष्यको चोट लगना या उसके घरमें चोरी होना तो उनके प्रारब्धका भोग है परन्तु जिसने आघात पहुँचाया और चोरी की, उसने अवश्य ही नवीन कर्म किया है, जिसका फल उसे आगे भोगना पड़ेगा। क्योंकि किसी भी कर्मके भोगका हेतु पहलेसे निश्चित नहीं होता, यदि हेतु निश्चित हो जाय और यह विधान कर दिया जाय कि अमुक पुरुष अमुकके घरमें चोरी करेगा, अमुकको चोट पहुँचावेगा तो फिर ऐसे लोग निर्दोष ठहरते हैं, क्योंकि वे तो ईश्वरीय विधानके वश होकर चोरी-डकैती आदि करते हैं। यदि यही बात है तो फिर ऐसे लोगोंके लिये शास्त्रोंमें दण्डविधान और इन कर्मोंके फल-भोगकी व्यवस्था क्यों है?

इसलिये यह मानना चाहिये कि फलभोगके सभी हेतु पहले-से निश्चित नहीं रहते। जिस क्रियामें कोई अन्याय या स्वार्थ रहता है, जो आसक्तिसे की जाती है, वह क्रिया अवश्य नवीन कर्म है; हाँ, यदि ईश्वर किसी व्यक्तिविशेषको ही किसीके मारनेमें हेतु बनाना चाहे, तो वह फाँसीका दण्ड पाये हुए व्यक्तिको फाँसीपर चढ़ाने-वाले न्यायकर्ममें नियुक्त जल्लादकी भाँति किसीको हेतु बना सकते

हैं। हो सकता है, उस फाँसी चढ़ानेवालेको चढ़नेवाला पूर्वके किसी जन्ममें मार चुका हो या यह भी हो सकता है कि उससे उसका कोई सम्बन्ध ही न हो और वह केवल न्याययुक्त कर्म ही करता हो।

स्वेच्छा—ऋतुकालमें भार्यागमनादिद्वारा सुख प्राप्त होना, उससे पुत्र होना, न होना या होकर मर जाना, न्याययुक्त व्यापारमें कष्ट स्वीकार करना, उससे लाभ होना, न होना या होकर नष्ट हो जाना आदि स्वेच्छा-प्रारब्ध है। इन कर्मोंके करनेके लिये जो प्रेरणात्मक वासना होती है, उसका कारण प्रारब्ध है। तदनन्तर क्रिया होती है। क्रियाका सिद्ध होना न होना, सुकृत-दुष्कृतका फल है।

स्वेच्छा-प्रारब्धके भोगोंके कारणको समझ लेना बड़ा ही कठिन विषय है। बड़े सूक्ष्म विचार और भाँति-भाँतिके तर्कोंका आश्रय लेनेपर भी निश्चितरूपसे यह कहना नितान्त कठिन है कि अमुक फलभोग हमारे पूर्वजन्मकृत अमुक कर्मोंका फल है जो उनकी प्रेरणासे मिला है, या इसी जन्मका कोई कर्म हाथोंहाथ सञ्चितसे प्रारब्ध बनकर इसमें कारण हुआ है।

एक मनुष्यने पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि या धनलाभके लिये किसी यज्ञका अनुष्ठान किया। तदनन्तर उसे पुत्र या धनकी प्राप्ति हुई। इस पुत्र या धनकी प्राप्तिमें यज्ञ कारण है या पूर्वजन्मकृत कर्म कारण है, इसका यथार्थ निर्णय करना कठिन है। सम्भव है कि, उसे पुत्र, धन पूर्वजन्मकृत कर्मके फलरूपमें मिला हो और वर्तमानके यज्ञका फल आगे मिले अथवा क्रियावैगुण्यसे उसका फल नष्ट हो गया हो। एक आदमी रोगनिवृत्तिके लिये औषध सेवन करता है,

उसकी बीमारी मिट जाती है, इसमें यह समझना कठिन है कि यह उस औषधका फल है या भोग समाप्त होनेपर स्वतः ही 'काकतालीय' न्यायवत् ऐसा हो गया है * । तथापि यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी हो, है सब स्वेच्छाकृत कर्मोंके प्रारब्धका फल । कर्मोंका फल अभी हो या आगे हो, यह कोई नियत बात नहीं है, सर्वथा ईश्वराधीन है, इसमें जीवकी पूर्ण परतन्त्रता है । इस जीवनमें पाप करनेवाले लोग धन-पुत्र-मानादिसे सुखी देखे जाते हैं, (यद्यपि उनमें कितनोंको मानसिक दुःख बहुत भारी हो सकता है जिसका हमें पता नहीं) और पुण्य करनेवाले मनुष्य सांसारिक पदार्थोंके अभावसे दुःखी देखे जाते हैं, (उनमें भी कितने ही मानसिक सुखी होते हैं) जिससे पाप-पुण्यके फलमें लोगोंको सन्देह होता है, वहाँ यह समझ रखना चाहिये कि उनके वर्तमान बुरे-भले कर्मोंका फल आगे मिलनेवाला है । अभी पूर्वजन्म-कृत कर्मोंका अच्छा-बुरा फल प्राप्त हो रहा है ।

कहा जाता है कि जो कर्म अधिक बलवान् होता है, उसका फल तुरन्त होता है और जो साधारण है, उसका विलम्बसे होता है परन्तु यह नियम भी सब जगह लागू पड़ता नहीं देखा जाता;

* बीमारी पूर्वकृत पापके फलस्वरूप भी होती है और इस समयके कुपथ्य-सेवनादिसे भी । कुपथ्यादिसे होनेवाली बीमारी प्रायः औषधसे नष्ट हो जाती है, पर कर्मजन्य रोग भोग समाप्त होनेतक दूर नहीं होता परन्तु इस बातका निर्णय होना कठिन है कि कौन-सी बीमारी कर्मजन्य है और कौन-सी कुपथ्यजन्य, इसलिये औषध-सेवन सभी बीमारियोंमें करना चाहिये ।

अतएव यहाँ यही कहना पड़ता है कि त्रिकालदर्शी जगन्नियन्ता परमात्माके सिवा, तर्क-युक्तियोंके बलपर मनुष्य स्वेच्छा-प्रारब्धका निर्णय नहीं कर सकता। कर्म और फलका संयमन करनेवाले योगी, ईश्वरकृपासे अपनी योगशक्तिके द्वारा कुछ जान सकते हैं।

क्रियमाण

अपनी इच्छासे जो बुरे-भले नवीन कर्म किये जाते हैं, उन्हें क्रियमाण कहते हैं। क्रियमाण कर्मोंमें प्रधान हेतु सञ्चित है, कहीं-कहीं अपना या पराया प्रारब्ध भी हेतु बन जाता है। क्रियमाण कर्ममें मनुष्य ईश्वरके नियमोंसे बँधा होनेपर भी क्रिया सम्पन्न करनेमें प्रायः स्वतन्त्र है। नियमोंका पालन करना, न करना, उसके अधिकार-में है। इसीसे उसे फलभोगके लिये भी बाध्य होना पड़ता है।

यदि कोई यह कहे कि हमारे द्वारा जो अच्छे-बुरे कर्म हो रहे हैं, सो सब ईश्वरेच्छा या प्रारब्धसे होते हैं, तो उसका ऐसा कहना भ्रमात्मक है। पुण्य-पाप करानेमें ईश्वर या प्रारब्धको हेतु माननेसे प्रधानतः चार दोष आते हैं, जो निर्विकार, निरपेक्ष, समदर्शी, दयालु, न्यायकारी और उदासीन ईश्वरके लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं—

(१) जब ईश्वर या प्रारब्ध ही बुरे-भले कर्म कराते हैं तब विधि-निषेध बतलानेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? '*सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव*' और '*सुरां न पिबेत्, परदारानभि न गच्छेत्*' आदि विधि-निषेधमय वाक्योंका उल्लङ्घन कर, मनमाना यथेच्छाचार करनेवाले पापपरायण व्यक्ति यह अनायास कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके नियन्ता ईश्वरकी

प्रेरणासे ही ऐसा कर रहे हैं। अतएव ईश्वरपर शास्त्र-हननका दोष आता है।

(२) जब ईश्वर ही सब प्रकारके कर्म करवाता है, तब उन कर्मोंका फल सुख-दुःख हमें क्यों होना चाहिये ? जो ईश्वर कर्म करता है उसे ही फलभोगका दायित्व भी स्वीकार करना चाहिये। ऐसा न करके वह ईश्वर अपना दोष दूसरोंपर डालनेके लिये दोषी ठहरता है।

(३) ईश्वरके न्यायकारी और दयालु होनेमें दोष आता है, क्योंकि कोई भी न्यायकर्ता पापके दण्डविधानमें पुनः पाप करनेकी व्यवस्था नहीं दे सकता। यदि पाप करनेकी व्यवस्था कर दी तो फिर पापियोंके लिये दण्डकी व्यवस्था करना अन्याय सिद्ध होता है। फिर यदि ईश्वर ही पाप कराता है—पापमें हेतु बनता है और फिर दण्ड देता है तब तो अन्यायी होनेके साथ ही निर्दयी भी बनता है।

(४) ईश्वर ही जब पापीके लिये पुनः पाप करनेका विधान करता है तब जीवके कभी पापोंसे मुक्त होनेका तो कोई उपाय ही नहीं रह जाता। पापका फल पाप, उसका फल पुनः पाप, इस तरह जीव पापमें ही प्रवृत्त रहनेके लिये बाध्य होता है जिससे एक तो अनवस्थाका दोष और दूसरे ईश्वर जीवोंको पापबन्धनमें रखना चाहता है, यह दोष आता है।

अतः यह मानना उचित नहीं कि ईश्वर पाप-पुण्य कराते हैं। पाप-कर्मके लिये तो ईश्वरकी कभी प्रेरणा ही नहीं होती,

पुण्यके लिये—सत्कर्मोंके लिये ईश्वरका आदेश है परन्तु उसका पालन करना, न करना या विपरीत करना हमारे अधिकारमें है। सरकारी अफ़सर क़ानूनके अनुसार चलता हुआ प्रजारक्षणका अधिकारी है परन्तु अधिकारारूढ़ होकर उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना उसके अधिकारमें है, यद्यपि वह क़ानूनसे बँधा है तथा क़ानून तोड़नेपर दण्डका पात्र भी होता है, वही हालत कर्म करनेमें मनुष्यके अधिकारकी है।*

ईश्वर सामान्यरूपसे सन्मार्गका नित्य प्रेरक होनेके कारण जीवके कल्याणमें सहायक होता है। पापकर्मोंके होनेमें प्रधान हेतु निरन्तर विषयचिन्तन है इसीसे रजोगुणसमुद्भूत कामकी उत्पत्ति होती है, उस कामसे ही क्रोध आदि दोष उत्पन्न होकर जीवकी अधोगतिमें कारण होते हैं। भगवान्ने कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अविवेक अर्थात्

---

* इस विषयका विशेष विवेचन 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र' शीर्षक लेखमें किया गया है, वहाँ देखना चाहिये।

मूढ़भाव उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाशसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि पापकर्मोंके होनेमें विषयचिन्तन-जनित राग—आसक्ति प्रधान कारण है, ईश्वर या प्रारब्ध नहीं। चिन्तन या स्फुरण क्रियमाणके—नवीन कर्मके नवीन सञ्चितके अनुसार पहले होता है अतः पापोंसे बचनेके लिये नवीन शुभकर्म करनेकी आवश्यकता है, नवीन शुभकर्मोंसे शुभसञ्चित होकर शुभका चिन्तन होगा जिससे शुभकर्मोंके होने और अशुभके रुकनेमें सहायता मिलेगी। इसीलिये अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने पुरुषार्थद्वारा पापकर्मके कारण रागरूप रजोगुणसे उत्पन्न कामका नाश करनेकी आज्ञा दी है। अर्जुनने भगवान्से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३।३६)

'हे कृष्ण! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है।'

इसके उत्तरमें भगवान् बोले कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यही महा अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे तृप्त न होनेवाला और पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान ।'

आगे चलकर भगवान्ने धूएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भकी भाँति ज्ञानको ढकनेवाले इस दुष्पूरणीय अग्निसदृश कामके निवासस्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको बतलाकर इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान-विज्ञाननाशक पापी कामको मारनेकी आज्ञा दी । यदि कामको जय करनेमें जीव समर्थ न होता तो उसके लिये भगवान्की ओरसे इसप्रकारकी आज्ञाका दिया जाना नहीं बन सकता । अतएव भगवान्की आज्ञानुसार शुभकर्म, शुभसंगति करनेसे क्रियमाण शुद्ध हो जाते हैं । यह क्रियमाण ही सञ्चित और प्रारब्धके हेतुभूत हैं । इसलिये मनुष्यको क्रियमाण शुभ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये क्योंकि इन्हींके करनेमें यह स्वतन्त्र भी है ।

त्रिविध कर्मोंका भोग बिना नाश होता है या नहीं ?

अब यह समझनेकी आवश्यकता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकारके कर्म फलभोगसे ही नाश होते हैं या उनके नाशका और भी कोई उपाय है ? इनमेंसे प्रारब्ध-कर्मोंका नाश तो भोगसे ही होता है, जैसे आप्तपुरुषके वाक्य व्यर्थ नहीं जाते इसी प्रकार प्रारब्धकर्मोंका नाश बिना भोगे नहीं हो सकता । भोग पूर्वोक्त अनिच्छा, परेच्छा या स्वेच्छासे हो सकते हैं और प्रायश्चित्तसे भी । सेवा या दण्डभोग दोनों ही छुटकारा मिलनेके उपाय हैं । सञ्चित और क्रियमाण कर्मोंका नाश निष्काम भावसे किये हुए यज्ञ, दान, तप,

सेवा आदि सत्कर्मसे तथा प्राणायाम, श्रवण, मनन, निदिध्यासन (सत्सङ्ग, भजन, ध्यान) आदि परमेश्वरकी उपासनासे हो सकता है। इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे सञ्चितकी राशि तो सूखे घासमें आग लगकर भस्म हो जानेकी भाँति भस्म हो जाती है।* और कोई स्वार्थ न रहनेके कारण किसी भी सांसारिक पदार्थकी कामना एवं कर्म करनेमें आसक्ति तथा अहंबुद्धि न रह जानेसे सकाम नवीन कर्म बन नहीं सकते।

उत्तम कर्मोंसे छुटकारा मिलना तो बहुत ही सहज है, वे तो भगवत्के अर्पण कर देनेमात्रसे ही छूट जाते हैं। जैसे एक मनुष्यने दूसरेको कुछ रुपये कर्ज दे रक्खे हैं। उसे उससे रुपये लेने हैं, इस लेनेकी भावनासे तो वह हृदयके त्यागसे छूट सकता है। 'रुपये छोड़ दिये' इस त्यागसे ही वह छूट जाता है, परन्तु जिसे रुपये देने हैं, वह इस तरह कहनेसे नहीं छूटता। इसी प्रकार जिन पापोंका दण्ड हमें भोगना है उनसे छुटकारा 'हम नहीं भोगना चाहते' यह कहनेसे नहीं होता। उनके लिये या तो भोग भोगना पड़ता है या निष्काम कर्म और निष्काम उपासना आदि करने पड़ते हैं।

किये हुए पापोंका और सकाम पुण्य-कर्मोंका परस्पर हवाला नहीं पड़ता एक दूसरेके मदमें कटते नहीं। दोनोंका फल अलग-अलग भोगना पड़ता है। रामलालके श्यामलालमें रुपये पावने

---

* यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (गीता ४। ३७)

हैं। श्यामलालने रुपये नहीं दिये। इसलिये एक दिन गुस्सेमें आकर रामलालने श्यामलालपर दो जूते जमा दिये। श्यामलालने अदालतमें फ़रियाद की। इसपर रामलालने कहा कि 'मेरे एक हजार रुपये श्यामलालमें लेने हैं, मैंने इसको दो जूते ज़रूर मारे हैं, इस अपराधके बदलेके दाम काटकर बाकी रुपये मुझे दिलवा दिये जायँ।' यह सुनकर मैजिस्ट्रेट हँस पड़ा। उसने कहा, 'तुम्हारा दीवानी मुक़द्दमा अलग होगा। तुम्हारे रुपये न आवें तो तुम इसपर दीवानी कोर्टमें नालिश करके जेल भिजवा सकते हो, परन्तु यहाँ तो जूते मारनेके लिये तुम्हें दण्ड भोगना पड़ेगा। बस, इसी प्रकार पाप-पुण्यका फल अलग-अलग मिलता है। सकाम पुण्यसे पापका और पापसे सकाम पुण्यका हवाला नहीं पड़ता।

कर्मका फल कौन देता है ?

कुछ लोग मानते हैं कि शुभाशुभ कर्मोंका फल कर्मानुसार आप ही मिल जाता है, इसमें न तो कोई नियामक ईश्वर है और न ईश्वरकी आवश्यकता ही है। परन्तु ऐसा मानना भूल है। इस मान्यतासे बहुत ही बाधाएँ आती हैं तथा यह युक्तिसंगत भी नहीं है। शुभाशुभ कर्मोंका विभागकर तदनुसार फलकी व्यवस्था करनेवाले नियामकके अभावमें कर्मका भोग होना ही सम्भव नहीं है। क्योंकि कर्म तो जड़ होनेके कारण नियामक हो नहीं सकते, वे तो केवल हेतुमात्र हैं। और पापकर्म करनेवाला पुरुष स्वयं पापोंका फल दुःख भोगना चाहता नहीं, यह बात निर्विवाद और लोक-प्रसिद्ध है। किसी मनुष्यने चोरी की या डाका डाला। वह चोरी-

डकैती नामक कर्म तो जड़ताके कारण उसके लिये कैदकी व्यवस्था कर नहीं सकते और वह कर्ता स्वयं चाहता नहीं, इसीलिये कोई शासक या राजा उसके दण्डकी व्यवस्था करता है। इसी प्रकार कर्मोंके नियमन, विभाग तथा व्यवस्थाके लिये किसी नियामक या व्यवस्थापक ईश्वरकी आवश्यकता है। इससे कोई यह न समझे कि राजा और ईश्वरकी समानता है। राजा सर्वान्तर्यामी और सर्वथा निरपेक्ष स्वभाववाला तथा स्वार्थहीन निर्भ्रान्त न होनेके कारण प्रमाद, पक्षपात, अनभिज्ञता या स्वार्थवश अनुचित व्यवस्था भी कर सकता है परन्तु परमात्मा समदर्शी, सर्वान्तर्यामी, सुहृद्, निरपेक्ष, दयालु और न्यायकारी होनेके कारण उससे कोई भूल नहीं हो सकती। राजा स्वार्थवश न्याय करता है, ईश्वर दयाके कारण जीवके उपकारके लिये न्याय करता है। यदि यह कहा जाय कि जब ईश्वरको कोई स्वार्थ नहीं है तब वह इस झगड़ेमें क्यों पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि ईश्वरके लिये यह कोई झगड़ा नहीं है। जैसे सुहृद् पुरुष पक्षपातरहित होकर दूसरोंके झगड़े निपटा देता है पर मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा कुछ नहीं चाहता, इससे उसका महत्त्व संसारमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ईश्वर सारे संसारका उनके हितके लिये निःस्वार्थरूपसे अपनी सुहृदताके कारण ही न्याय करता है।

ईश्वर नियामक न होनेसे तो कर्मका भोग ही नहीं हो सकता। इसमें एक युक्ति और विचारणीय है। एक मनुष्यने ऐसे पाप किये हैं जिससे उसे कुत्तेकी योनि मिलनी चाहिये। उसके कर्म तो जड़

होनेसे उसे उस योनिमें पहुँचा नहीं सकते (क्योंकि विवेकयुक्त पुरुषकी सहायताके बिना रथ, मोटर आदि जड़ सवारियाँ अपने आप यात्रीको उसके गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँचा सकतीं) और वह स्वयं पाप भोगनेके लिये जाना नहीं चाहता। यदि जाना चाहे तब भी नहीं जा सकता, क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति नहीं है। जब हमलोग सावधान अवस्थामें भी सर्वथा अपरिचित स्थानमें नहीं जा सकते तब बिना विवेकके योनिपरिवर्तन करना तो असम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि उस समय अज्ञानका परदा दूर हो जाता है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मरणकालमें तो दुःख और मोहकी अधिकतासे जीवकी दशा अधिक भ्रान्त-सी होती है। योगी या ज्ञानीकी-सी स्थिति होती नहीं। यदि अज्ञानका परदा हटकर उसका यों ही जीवन्मुक्त होना मान लें, तो यह भी युक्ति-सङ्गत नहीं, क्योंकि भोग, प्रायश्चित्त या उपासना आदिके बिना पापोंका नाश होकर एकाएक किसीका जीवन्मुक्त हो जाना अयुक्त है। साधारण संसारी ज्ञानसे योनिप्रवेशादि क्रिया न तो सम्भव है और न प्रत्यक्ष दुःखरूप होनेके कारण साधारण पुरुषको इष्ट है तथा न उसकी सामर्थ्य ही है, अतएव यह सिद्ध होता है कि कर्मानुसार फलभोग करानेके लिये सृष्टिके स्वामी नियन्त्रणकर्ता-की आवश्यकता है और वह नियन्त्रणकर्ता ईश्वर अवश्य है।

ईश्वरभजनकी आवश्यकता क्यों है?

मान लिया जाय कि शुभाशुभ कर्मानुसार फल अवश्य ही ईश्वर देता है। और वह कम-ज्यादा भी नहीं कर सकता, फिर उसके

भजनकी क्या आवश्यकता है? इसी प्रश्नपर अब विचार करना है। प्रथम तो यह बात है कि ईश्वरभजन एक सर्वोत्तम उपासनारूप कर्म है, परम साधन है, सबका शिरमौर है। इसके करनेसे इसीके अनुसार बुद्धिमें स्फुरणाएँ होती हैं और इस तरहकी स्फुरणासे बारम्बार ईश्वर-भजन-स्मरण होने लगता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञानका परम दिव्य प्रकाश चमक उठता है। ज्ञानाग्निसे सञ्चित कर्मराशि दग्ध होकर पुनर्जन्मके कारणको नष्ट कर डालती है। इसीलिये भजन करना परम आवश्यक है।

दूसरे यह समझकर भी भजन अवश्य करना चाहिये कि यही हमारे जीवनका परम कर्तव्य है। माता-पिताकी सेवा मनुष्य अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। फिर जो माता-पिताका भी परमपिता है, जो परम सुहृद् है, जिसने हमें सब तरहकी सुविधाएँ दी हैं, जो निरन्तर हमपर अकारण ही कृपा रखता है, जिस कल्याणमय ईश्वरसे हम नित्य कल्याणका आदेश पाते हैं, जो हमारे जीवनकी ज्योति है, अन्धेकी लकड़ी है, डूबते हुएका सहारा और पथभ्रष्ट नाविकका एकमात्र ध्रुवतारा है, उसका स्मरण करना तो हमारा प्रथम और अन्तिम कर्तव्य ही है।

ईश्वरका स्मरण न करना बड़ी कृतघ्नता है, हम जब माता, पिता, गुरुके उपकारका भी बदला नहीं चुका सकते, तब परम सुहृद् ईश्वरके उपकारोंका बदला तो कैसे चुकाया जा सकता है? ऐसी हालतमें उसे भूल जाना भारी कृतघ्नता—नीचातिनीच कार्य है।

ईश्वर सब कुछ कर सकता है 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ है परन्तु वह करता नहीं, अपने नियमोंकी आप रक्षा करता है,

और हमें पापोंकी क्षमा और पुण्योंका फल पानेके लिये उसके भजन-का उपयोग ही क्यों करना चाहिये। पाप तो उसके भजनके प्रतापसे अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्यके उदयाभास-मात्रसे अन्धकार नष्ट हो जाता है।

जबहिं नाम मनमें धर्यो, भयो पापको नास।
जैसे चिनगी आगकी, परी पुराने घास॥

परन्तु भगवान्का भजन करनेवालेको यह भावना नहीं रखनी चाहिये कि इस भजनसे पाप नाश हो जायगा। भगवान्के रहस्यको समझनेवाला भक्त अपराध क्षमा करानेके लिये भी उसके भजनका उपयोग नहीं करता। जिस ईश्वरभजनसे मायारूप संसार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, क्या इस रहस्यको जाननेवाला पुरुष कभी तुच्छ सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भजनका उपयोग कर सकता है? यदि करता है तो वह बड़ी भूल करता है। राजाको मित्र पाकर उससे दस रुपयेकी नालिशसे छुटकारा पानेकी प्रार्थना करनेके समान अत्यन्त हीन कार्य है। इसलिये भजनको किसी भी सांसारिक कार्यमें नहीं बर्तना चाहिये, परन्तु कर्तव्य समझ-कर ईश्वरभजन सदा-सर्वदा करते ही रहना चाहिये। क्योंकि भजनके आदि, मध्य और अन्तमें केवल कल्याण-ही-कल्याण भरा है।



मृत्यु-समयके उपचार



न्दू-जातिमें मनुष्यके मरनेके समय घरवाले उसका परलोक सुधारनेके बहाने कुछ ऐसे काम कर बैठते हैं जिससे मरनेवाले मनुष्य-को बड़ी पीड़ा होती है। अतएव निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये—

१—यदि रोगी दो-तीन मंजिल ऊपर हो तो ऐसी हालतमें उसे नीचे लानेकी आवश्यकता नहीं।

२—खटियापर सोया हुआ हो तो वहीं रहने देना चाहिये।

३—यदि खटियापर मरनेमें कुछ बहम हो और नीचे उतारकर सुलानेकी आवश्यकता समझी जाय तो अनुमानसे मृत्युकाल-के दो-चार दिन पहलेसे ही उसे खाटसे नीचे उतारकर जमीनपर बालू बिछाकर सुला दे। बालू ऐसी नरम होनी चाहिये जो उसके शरीरमें कहीं गड़े नहीं। दो-चार दिन या दो-चार पहर पहलेका पता वैद्योंसे पूछकर, रोगीके लक्षण देखकर और बड़े-बूढ़े अनुभवी पुरुषोंसे सलाह करके अन्दाज

कर ले। रोगी अच्छा हो जाय तो वापस खटियापर सुलानेमें कोई आपत्ति है ही नहीं, यदि अन्दाजसे पहले उसका प्राणान्त हो गया तो भी कुछ हानि नहीं है बल्कि मृत्युकालमें नीचे उतारकर सुलानेमें जो कष्ट होता है, उससे वह बच गया। दो-चार दिन पहले रोगीको अनुमान हो जाय तो उसे स्वयं ही कह देना चाहिये कि मुझे नीचे सुला दो।

४—उस अवस्थामें मृत्युसे पहले उसे स्नान करानेकी कोई आवश्यकता नहीं, इससे व्यर्थमें उसका कष्ट बढ़ता है। मल वगैरह साफ करना हो तो गीले गमछेसे धीरे-धीरे पोंछकर साफ कर देना चाहिये।

५—इस अवस्थामें गङ्गाजल, तुलसी देना बड़ा उत्तम है, परन्तु उसे निगलनेमें क्लेश होता हो तो तुलसीका पत्ता पीसकर उसे गङ्गाजलमें मिलाकर पिला देना चाहिये। एक बारमें एक तोलेसे अधिक जल नहीं देना चाहिये। दस-पाँच मिनिट बाद फिर दिया जा सकता है। गङ्गाजल बहुत दिनोंका विस्वाद न हो, पहले स्वयं चखकर फिर रोगीको देना चाहिये। जिसमें गन्ध आने लगी हो, जो कड़वा हो गया हो वह नहीं देना चाहिये। ताजा गङ्गाजल कहींसे ही मँगा लेना चाहिये। गङ्गाजलमें शुद्धि, अशुद्धि या स्पर्शास्पर्शका कोई विधान नहीं है। रोगी मुँह बन्द कर ले तो उसे कुछ भी नहीं देना चाहिये।

६—रोगीके पास बैठकर घरका रोना नहीं रोना चाहिये और संसारकी बातें उसे याद नहीं दिलानी चाहिये। माता, स्त्री, पति, पुत्र या और किसी स्नेहीको उसके पास बैठकर अपना दुःख सुनाना या रोना नहीं चाहिये। उसके मनके अनुकूल उसकी हर तरहसे कल्याणमयी सेवा करनी चाहिये।

७—डाक्टरी या जिसमें अपवित्र पदार्थोंका संयोग हो ऐसी दवा नहीं खिलानी चाहिये।

८—जहाँतक चेत रहे वहाँतक श्रीगीताका पाठ और उसका अर्थ सुनाना चाहिये। चेत न रहनेपर भगवान्‌का नाम सुनाना उचित है। गीता पढ़नेवाला न हो तो पहलेसे ही भगवान्‌का नाम सुनावे।

९—यदि रोगी भगवान्‌के साकार या निराकार किसी रूपका प्रेमी हो तो साकारवालेको भगवान्‌की छबि या मूर्ति दिखलानी चाहिये और उसके रूप तथा प्रभावका वर्णन सुनाना चाहिये। निराकारके प्रेमीको निराकार ब्रह्मके शुद्ध, बोधस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्, चित्, घन, नित्य, अज, अविनाशी आदि विशेषणोंके साथ आनन्द शब्द जोड़कर उसे सुनाना चाहिये।

१०—यदि काशी आदि तीर्थोंमें ले जाना हो तो उसे पूछ ले। उसकी इच्छा हो, वहाँतक पहुँचनेमें शङ्का न हो, वैद्योंकी

सम्मति मिल जाय, उतने रुपये खर्च करनेकी शक्ति हो तो वहाँ ले जाय ।

११–प्राण निकलनेके बाद भी कम-से-कम पन्द्रह-बीस मिनिट-तक किसीको खबर न दे । भगवन्नामका कीर्तन करते रहें, जिससे वहाँका वायुमण्डल सात्त्विक रहे । रोनेका हल्ला न हो, क्योंकि उस समयका रोना प्राणीके लिये अच्छा नहीं है ।

१२–घरवाले समझदार हों तो उनको रोना नहीं चाहिये । दूसरे लोगोंको भी उनके पास आकर उन्हें केवल सहानुभूतिके शब्द सुनाकर रुलानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ।

१३–शोक-चिह्न बारह ही दिनतक रखना चाहिये ।

१४–बारह वर्षसे कम उमरके लड़के-लड़कियोंकी मृत्युका शोक न मनावे ।

१५–मृतकके लिये शोकसभा न कर अपनी सावधानीके लिये सभा करनी चाहिये । यह बात याद करनी चाहिये कि इसी प्रकार एक दिन हमारी भी मृत्यु होगी ।

१६–जीवन्मुक्त पुरुषकी मृत्युपर शोक न करे, ऐसा करना उसका अपमान करना है ।





परमार्थ-ग्रन्थमालाकी सात मणियाँ

तत्त्व-चिन्तामणि—लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मू० ॥=) स० ।||-), यह पुस्तक आपके हाथमें है ··· पुस्तकमें धर्मका भाव बड़ा जागरूक है, प्रत्येक पृष्ठसे सचाई और सात्विकी श्रद्धा प्रकट होती है। ···लेख तो अमृतरूप हैं (माधुरी)

मानव-धर्म—धर्मके दश प्रकारके भेद बड़ी सरल सुबोध भाषामें उदाहरणों सहित समझाये गये हैं। मू० ≡)

साधन-पथ—इसमें साधन-पथके विघ्नों, उनके निवारणके उपायों तथा सहायक साधनोंका विस्तृत वर्णन किया गया है। पृष्ठ ७२, मू० =)॥

तुलसी-दल—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ सुन्दर लेखोंका संग्रह, भगवान्का एक सुन्दर चित्र भी है। पृ० २६४, मू० ॥) स० ॥≡)

माता—श्रीअरविन्द घोषकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother) का हिन्दी-अनुवाद, मू० ।)

परमार्थ-पत्रावली—श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ कल्याणकारी पत्रोंका संग्रह, मू० ।)

नैवेद्य—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ और चुने हुए लेखोंका सचित्र संग्रह। मूल्य ॥=) स० ।||-)

प्राचीन सद्ग्रन्थ

श्रीमद्भगवद्गीता—शांकरभाष्यका मूलसहित हिन्दी-अनुवाद और शब्द-सूची २॥) पक्की जिल्द २|||)

श्रीमद्भगवद्गीता मूल, पदच्छेद, अन्वय और भाषाटीकासहित १।)

श्रीमद्भगवद्गीता ,, (मझली) ॥≡)

श्रीमद्भगवद्गीता सटीक ··· ॥)

श्रीमद्भगवद्गीता सटीक पृ० ३५२, मूल्य =)॥, स० ··· ≡)॥

श्रीमद्भगवद्गीता मूल मोटे अक्षर ।-)

श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम =)

श्रीमद्भगवद्गीता केवल भाषा ।)

श्रीमद्भगवद्गीता ताबीजी =)

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध सानुवाद (सचित्र) ।||) स० १)

श्रुति-रत्नावली—श्रुतियोंका अर्थ-सहित संग्रह सचित्र पृ० २८४ मू० ॥)

विवेक-चूडामणि—सानुवाद (सचित्र) मूल्य ।≡) सजिल्द ॥=)

प्रबोध-सुधाकर—सानुवाद ≡)॥

अपरोक्षानुभूति—सानुवाद =)॥

मनुस्मृति द्वितीय अ० सटीक -)॥

विष्णुसहस्रनाम ···)॥

प्रश्नोत्तरी—सटीक ···)॥

सन्ध्या—हिन्दी-विधि-सहित)॥

बलिवैश्वदेवविधि ···)॥

पातञ्जलयोगदर्शन (मूल))।

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी अन्यान्य पुस्तकें

श्रीवियोगी हरिजीकी पुस्तकें

श्रीहनुमानप्रसादजीकी पुस्तकें

श्रीभोलेबाबाजीकी पुस्तकें

श्रीद्वारकाप्रसादजीकी पुस्तकें

जीवन-चरित्र

अन्यान्य लेखकोंकी पुस्तकें

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

निर्बलके बल राम

राग भैरवी

सुने री मैंने निर्बलके बल राम ।

पिछली साख भरूँ सन्तनकी, अड़े सँवारे काम ॥ १ ॥

जबलगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सरयो नहिं काम ।

निर्बल ह्वै बलराम पुकारयो, आये आधे नाम ॥ २ ॥

द्रुपद-सुता निर्बल भइ ता दिन, तजि आये निज धाम ।

दुःशासनकी भुजा थकित भई, बसनरूप भये श्याम ॥ ३ ॥

अप बल तप-बल और बाहु-बल, चौथो है बल दाम ।

सूर किसोर-कृपातें सब बल, हारेको हरिनाम ॥ ४ ॥

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर